श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत—

बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड

"बुद्धियोगमुपाश्रित्य–मच्चित्तः सततं भव" ।

—गीता १८।५७।



मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथीपथिकः
जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान—मानवाश्रम के

प्रधान—संरक्षक

महामहिम राष्ट्रपति श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग

के

समर्थ करकमलों में

संस्थान की ओर से सम्मान पूर्वक

समर्पित

महामहिम राष्ट्रपति महाभाग !

अपनी सहजसिद्धा संस्कृतिनिष्ठा के सहज आकर्षण से 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' के 'प्रधानसंरक्षक' बन जाने की जिस अनुमति से संस्थान को आपने अनुगृहीत किया है, तत्कृतज्ञता—ज्ञापनार्थ ही 'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड) नामक प्रस्तुत ग्रन्थ श्रीमान् के समर्थ करकमलों में अत्यन्त सम्मान, तथा विनयपूर्वक समर्पित किया जारहा है।

राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान
मानवाश्रम–दुर्गापुरा (जयपुर)
माघशुक्ल-वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०१३

आत्यन्तिकरूप से विनम्र—
मोतीलालशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
(अध्यक्षः)



गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक–तृतीय खण्ड का

'बुद्धियोगपरीक्षा' ('ग' विभागात्मक)

पूर्वखण्ड

"बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव"

निबन्धा—

मोतीलालशर्म्मा–वेदवीथीपथिकः–

आङ्गिरसो भारद्वाजः

जयपत्तनाभिजनः

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा

प्रकाशित

एवं—श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम दुर्गापुरा–जयपुर के द्वारा

मुद्रित



प्रथमवार ५०० प्रति

मूल्य २०)

श्रीः

बुद्धियोगसंस्मरणम्—

आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ॥
"बुद्धिं" तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च ॥१॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः ॥
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥२॥ (कठोपनिषत् १।३।३,६)।
यो देवानां प्रभवोद्भवश्च विश्वाधियो रुद्रो महर्षिः ॥
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं स नो 'बुद्धया' शुभया संयुनक्तु ॥३॥ (श्वे० ३।४।)।
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ! ॥
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४॥ (गीता २।४।१।)।
दूरेण ह्यवरं कर्म्म 'बुद्धियोगाद्' धनञ्जय ! ॥
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥५॥ (गीता २।४।६।)।
यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ॥
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥६॥ (गीता २।५।२।)।
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ॥
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥७॥ (गीता २।३।५।)।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योप्रजायते ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥८॥ (गीता २।६५।)।
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ॥
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥९॥ (गीता १०।१०।)
'बुद्धियुक्तो' जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ॥
तस्माद्योगाय युज्यस्व, योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥१०॥ (गीता २।५०।)।
चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ॥
'बुद्धियोग' मुपाश्रित्य मच्चितः सततं भव ॥११॥ (गीता १८।५७।)।



श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिका-बुद्धियोगपरीक्षा
पूर्वखण्ड की
प्रस्तावना, परिलेख तथा विषयसूची

---*---

म

त

अ

ना

सम

राउ

श्री:

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–'सर्वान्तरतमपरीक्षा' त्मक–'बुद्धियोगपरीक्षा' (पूर्वखण्ड ग विभाग)

के सम्बन्ध में

किमपि प्रास्ताविकम्—

'श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषत्' नामक गीताशास्त्र भारतीय ज्ञान–विज्ञानकोश का एक वैसा अमूल्य भण्डार है, जिसे हम प्राजापत्यशास्त्र (वेदशास्त्र) के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक रहस्यपूर्ण विषयों का 'सूचीग्रन्थ' कह सकते हैं। वेदशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाएँ ब्रह्म, तथा यज्ञ भेद से दो स्वतन्त्र धाराओं में प्रवाहित हैं। ब्रह्मतत्त्व' का विश्लेषण करनें वालीं परिभाषाएँ ज्ञानप्रधाना हैं, एवं 'यज्ञतत्त्व' का विश्लेषण करनें वालीं परिभाषाएँ विज्ञानप्रधाना हैं। 'ज्ञान' का ब्रह्म से सम्बन्ध है, एवं विज्ञान का यज्ञ से सम्बन्ध है। एकत्त्वनिबन्धन ज्ञानैकघन ब्रह्म हीं नानात्त्वनिबन्धन विज्ञानैकघन यज्ञ की प्रतिष्ठा माना गया है, जैसाकि–**'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'** (शत ब्रा० ६। १। १। ८।) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। अनन्त–असंख्य-भावात्मक यह सम्पूर्ण चराचर विश्व ही **'विविधं ज्ञानं विज्ञानम्'** लक्षण के अनुसार विज्ञान का मूर्त्त स्वरूप है, यही ईश्वरीय प्राकृतिक नित्य यज्ञ की स्वरूप–व्याख्या है। निश्चयेन नानाभावापन्न विज्ञानात्मक यज्ञस्वरूप इस विश्व का इसप्रकार अनेकरूप से उस ज्ञानैकघन एक ब्रह्म के आधार पर ही वितान हुआ है। यह सम्पूर्ण यज्ञवैभव उस एक ही ब्रह्म का मूर्त्त वैभव है, जिस वैभव का ऋषि ने यों यशोगान किया है—

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्धः, एकः सूर्य्यो विश्वमनु प्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति, एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्॥
—ऋक्संहिता ८। ५८। २।

इसी दृष्टिकोण के आधार पर वेदविद्या को **ब्रह्मविद्या, यज्ञविद्या,** भेद से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है, किया गया है। मूलविद्या ब्रह्मविद्या है, तूलविद्या यज्ञविद्या है। केन्द्रविद्या मूलविद्या है, पृष्ठविद्या तूलविद्या है। ज्ञानप्रधाना एकत्त्वनिबन्धना हृद्या ब्रह्मविद्या ही 'मन्त्रविद्या' है, एवं विज्ञानप्रधाना नानात्त्वनिबन्धना पृष्ठया यज्ञविद्या ही 'ब्राह्मणविद्या' है।

मन्त्रविद्यात्मक वेदभाग ही मूलवेद है, सूत्रवेद है। एवं ब्राह्मणविद्यात्मक वेदभाग ही तूलवेद है, व्याख्यावेद है। ब्रह्म की व्याख्या ही ब्राह्मण है। और यों –'**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' इत्यादि आर्ष-आप्त-सिद्धान्तानुसार मन्त्रब्राह्मणात्मक, किंवा ब्रह्मब्राह्मणात्मक, किंवा ज्ञानविज्ञानात्मक वेदशास्त्र ही भारतीय 'विद्याशास्त्र' का संक्षिप्त स्वरूप-परिचय बन रहा है। महाविद्यात्मिका ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता, दूसरे शब्दों में एकत्त्वभावनिबन्धना ज्ञानविद्या के आधार पर प्रतिष्ठिता खण्ड-खण्डात्मिका यज्ञविद्या, किंवा नानात्त्वनिबन्धना विज्ञानविद्या ही सम्पूर्ण विद्याओं का फलितार्थ है। दोनों के अतिरिक्त विद्या की और कोई स्वरूप-व्याख्या शेष नहीं रह जाती। दोनों के परिज्ञानानन्तर अन्य कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता। यही वेदशास्त्र की परिपूर्णता है, जिसका सर्वात्मना एकमात्र गीताशास्त्र ही प्रातिनिध्य कर रहा है, जैसा कि इसके निम्न लिखित प्रतिज्ञासूत्र से प्रतिध्वनित है—

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥

—गीता ६।२।

*धर्म्म–ज्ञान–वैराग्य–ऐश्वर्य्य–यशः–श्री, इन ६ प्रकार की 'भग-सम्पत्तियों' से सर्वात्मना समन्वित, अतएव 'भगवान्' ÷ नाम से प्रसिद्ध पूर्णेश्वर पूर्णावतार वासुदेव श्रीकृष्ण के मुखपङ्कज से गीयमान–विशदीकृत-ब्रह्मयज्ञात्मक ज्ञानविज्ञान हीं गीताशास्त्र का स्वरूप-निष्कर्ष है। ज्ञानप्रधाना ब्रह्मविद्या के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञानप्रधाना योगविद्या ही सम्पूर्ण गीताशास्त्र की स्वरूप-व्याख्या है, जैसा कि गीताध्यायों के "**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां–योगशास्त्रे०**' इत्यादि उपसंहारवाक्य से स्पष्ट प्रमाणित है।

विज्ञानात्मक विश्व ही 'योग' का स्वरूप-परिचय है, जो कि यह विश्वात्मक योग पूर्वकथनानुसार ब्रह्म पर ही प्रतिष्ठित है। हृदयस्थ यह ब्रह्मतत्त्व अपने विभूतिभाव से क्रमशः–

---

*ऐश्वर्य्यस्य च समग्रस्य, धर्म्मस्य, यशसः, श्रियः।
ज्ञान–वैराग्ययोश्चैव षण्णां 'भग' इतीरिणा ॥

÷उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ॥

अव्ययब्रह्म, अक्षरब्रह्म, आत्मक्षरब्रह्म, विश्वसृड्ब्रह्म, भेद से चार महिमाभावों में परिणत हो रहा है। इसी आधार पर–**'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** (श्रुतिः) मूलक चतुष्पाद्ब्रह्म के स्वरूप का उपबृंहण हुआ है वेदशास्त्र में। **'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः, पादोऽस्येहाभवत्पुनः,** (यजुः) के अनुसार अपने अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, रूप तीन पादों से असंस्पृष्ट रहता हुआ ब्रह्म चौथे विश्वसृट् नामक पाद से ही विज्ञानयोगात्मक विश्व का उपादान बना करता है। विश्व को स्वमहिमा से उत्पन्न कर चतुष्पाद्ब्रह्म **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** के अनुसार विश्वगर्भ में प्रविष्ट हो जाता है। प्रतिष्ठारूप से, अव्ययदृष्टि से वही ब्रह्म **'विश्वाधार'** है, अक्षरदृष्टि से वही **'विश्वकर्त्ता'** है, आत्मक्षरदृष्टि से वही **'विश्वस्रष्टा'** है, एवं विश्वसृट् दृष्टि से वही **'विश्वमूर्त्ति'** है। ऐसे इस ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित विज्ञाननिबन्धन विश्वयोग का निरूपण करना हीं गीता का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। यही **'ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे'** का फलितार्थ है।

'योग' के आधारभूत ब्रह्म के तथाकथित चार विवर्त्तों के कारण 'योग' भी चतुर्द्धा विभक्त हो रहा है। अव्ययब्रह्म से समन्वित वही योग **'वैराग्ययोग'** कहलाया है। अक्षरब्रह्म से समन्वित वही योग **'ज्ञानयोग'** माना गया है। आत्मक्षरब्रह्म से समन्वित वही योग **'ऐश्वर्य्ययोग'** नाम से प्रसिद्ध हुआ है। एवं विश्वसृड्ब्रह्म से संयुक्त वही योग **'धर्म्मयोग'** नाम से व्यवहृत हुआ है। इन चार योगों से समन्विता ब्रह्मविद्या भी चार विद्याओं में परिणत हो रही है। जो चारों विद्याएँ वेदशास्त्र की परिभाषा में जहाँ क्रमशः **अव्ययविद्या, अक्षरविद्या, आत्मक्षरविद्या, विश्वसृड्विद्या,** इन नामों से उपवर्णित हैं, वहाँ ये ही चारों विद्याएँ गीताशास्त्र की परिभाषा में क्रमशः **'राजर्षिविद्या, सिद्धविद्या, राजविद्या, आर्षविद्या,** इन नामों से निरूपित हैं। अव्ययविद्यात्मिका वैराग्यविद्या ही राजर्षिविद्या है। इस प्रथमा ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित वैराग्ययोग ही गीतापरिभाषा में **'बुद्धियोग'** कहलाया है। अक्षरविद्यात्मिका ज्ञानविद्या ही सिद्धविद्या है। इस द्वितीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ज्ञानयोग ही गीतापरिभाषा में **'ज्ञानयोग'** है। आत्मक्षरविद्यात्मिका ऐश्वर्य्यविद्या ही राजविद्या है। इस तृतीया ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित ऐश्वर्य्ययोग ही गीता-परिभाषा में **'भक्तियोग'** है। विश्वसृड्विद्यात्मिका धर्म्मविद्या ही आर्षविद्या है। इस चतुर्थी ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित धर्म्मयोग ही गीतापरिभाषा में **'कर्म्मयोग'** है। आरम्भ के ६ अध्यायों में (१ से ६ पर्य्यन्त) राजर्षिविद्यानुगत **'बुद्धियोग'** का निरूपण हुआ है। तदुत्तर दो अध्यायों में (७–८) सिद्धविद्यानुगत **'ज्ञानयोग'** का प्रतिपादन हुआ है। तदुत्तर ४ अध्यायों में (९ से १२

पर्य्यन्त) राजविद्यानुगत '**भक्तियोग**' का उपबृंहण हुआ है। एवं तदुत्तर सर्वान्त के ६ अध्यायों में (१३ से १८ पर्य्यन्त) आर्षविद्यानुगत '**कर्म्मयोग**' का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है । यों '**ब्रह्मविद्यायां**' के फलितार्थरूप—'**अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विश्वसृड्-ब्रह्मविद्यायां**' को आधार बना कर गीताशास्त्र ने '**योगे**' के फलितार्थरूप '**बुद्धि-ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगे**' रूप से चारों योगों का ही निरूपण किया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है ।

१-अव्ययब्रह्म— तद्विद्या वैराग्यविद्या-राजर्षिविद्या वा—	तद्योगः-वैराग्ययोगः— बुद्धियोगो वा।
२-अक्षरब्रह्म—-तद्विद्या ज्ञानविद्या—सिद्धविद्या वा—-	तद्योगः-ज्ञानयोगः——ज्ञानयोगो वा।
३-आत्मक्षरब्रह्म- तद्विद्या ऐश्वर्य्यविद्या-राजविद्या वा——	तद्योगः-ऐश्वर्य्ययोगः—भक्तियोगो वा।
४-विश्वसृड्ब्रह्म-तद्विद्या धर्म्मविद्या—आर्षविद्या वा——	तद्योगः-धर्म्मयोगः-——कर्म्मयोगो वा।
सैषा चतुर्विधा ब्रह्मविद्या (४)	सोऽयं चतुर्विधो योगः (४)

सैषा ब्रह्मविद्यानुगता-योगप्रतिपादनपरा श्रीमद्भगवद्गीता

अष्टादशाध्यायी

स एषः-वैज्ञानिकविषयविभागः

वेदयुगात्मक सत्ययुग में (जिसे कि पुराणशास्त्र ने 'देवयुग' भी कहा है) स्वयं अव्ययेश्वर पुरुषोत्तम भगवान् ने हीं किसी अन्य शरीरविशेषावच्छिन्न योगमायामय मानवस्वरूप से सर्वप्रथम भारतीय सम्राट् विवस्वान् को ही ब्रह्मविद्यात्मक योग का उपदेश दिया था, जो परम्परया राजर्षि-सम्प्रदाय में सम्भवतः त्रेतायुग पर्य्यन्त निरवच्छिन्नरूप ले प्रचलित रहा । आगे चल कर (संशयात्मक द्वापरयुग में) यह योगनिष्ठा **कपिल की सांख्यनिष्ठा** से, तथा **हिरण्यगर्भ की कर्म्मनिष्ठा** से अभिभूत होती हुई अपने अव्ययात्मनिबन्धन समत्त्वभाव से सर्वथैव पराङ्मुख बन गई। इस पराङ्मुखता का प्रधान कारण बना वेदतत्त्ववाद की विस्मृति । यही कारण है कि, द्वापर के अन्त में, तथा कलि के आरम्भ में आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के महाभारतयुग में वेदसंकलनकर्त्ता

भगवान् व्यास को अपने–'**सुदुर्लभा वेदविद्वांसः**' (महाभारत) ये उद्गार अभिव्यक्त करने पड़े। वैदिक–तत्त्ववाद के अभिभव ने ही तथाकथित बुद्धियोगसिद्धान्त को महाभारतयुग के आते आते तो सर्वथा ही विस्मृत ही करा दिया। फलस्वरूप वेदसिद्ध निष्ठापथ के स्थान में सांख्य–कर्म्म-प्रतिद्वन्द्वितात्मक–धर्म्मविप्लव उपस्थित हो पड़ा तद्युग में, जिसके उपशम के लिए पुनः उसी गीतातत्त्वोपदेष्टा पूर्ण पुरुष को मानुषावतार धारण करना पड़ा। देवयुग में जहाँ गीतायोग के प्रथम शिष्य विवस्वान् बने थे, वहाँ महाभारत–युग में उसी योग के प्रथम शिष्य बने नरावतार इन्द्रपुत्र अर्जुन। इसी ऐतिहासिक चिरन्तन तथ्य की दृष्टि से हम महाभारत–युगानुगत गीतोपदेश को गीता का पुनःसंस्करण ही मान सकते हैं, माना जाना चाहिए।

सम्भवतः २ सहस्र वर्ष पर्य्यन्त भारतराष्ट्र इस गीतापथ का अनुगामी बना रहा तब्तक, जबतक कि भारतीय प्रज्ञा वेदशास्त्र के ज्ञानविज्ञानात्मक पारिभाषिक तात्त्विक अध्ययनाध्यापन में प्रवृत्त रही। नियतिचक्र के निग्रह से पुनः आगे चल कर वेदनिष्ठा शिथिल हो पड़ी। एवं तत्स्थान में लोकभावुकताओं का प्रभुत्त्व स्थापित हो गया। परिणामस्वरूप पुनः गीता की बुद्धियोगनिष्ठा तो हो गई अभिभूत, एवं कल्पित मतवादों की भावुकतापरम्परा बन गई प्रधाना। मतवादाभिनिवेश-मूला इसी भावुकता के निग्रहात्मक अनुग्रह से गीताशास्त्र का वेदसम्मत दृष्टिकोण सर्वथा ही विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गया, जो एकान्तवेदनिष्ठ आचार्य्यप्रवर स्व० **श्रीमधुसूदनजी** महाराज के अनुग्रह से पुनः नवीनरूप से व्यक्त होने जा रहा है।

वैदिक तत्त्ववाद ही इस व्यक्तीभाव की मूलप्रतिष्ठा है, जैसाकि प्रस्तुत गीतासाहित्य से सर्वात्मना विस्पष्ट है। यह केवल मान्यता ही नहीं है, अपितु श्रद्धासमन्विता पूर्ण आस्था है कि, वैदिक तत्त्ववाद को आधार बनाए बिना गीता के एक अक्षर का भी समन्वय सम्भव नहीं है। यही कारण है कि, विगत शताब्दियों में गीता पर जो भाष्य-टीका-टिप्पणियाँ हुई हैं, वैदिक-तत्त्ववाद से असंस्पष्ट रहने के कारण उन सभी का मान्यतानुबन्धी मतवादात्मक वैय्यक्तिक दृष्टिकोणों पर ही पर्य्यवसान है। व्याख्याताओं नें अपनीं मान्यताओं के अनुसार गीता के सम्बन्ध में अपना एक सिद्धान्त बना लिया है। एवं तदनन्तर अपने इस सिद्धान्त के समन्वय के लिए ही ये व्याख्याता गीतार्थ के समन्वय में प्रवृत्त हुए हैं। उदाहरण के लिए **वाल्लभों** की दृष्टि में गीता यदि शुद्धाद्वैतवाद की प्रतिपादिका है, तो **रामानुजीय** महानुभाव इसे विशिष्टाद्वैत–परक ही उद्घोषित कर रहे हैं। उधर **माध्व** यदि इसके द्वारा द्वैतवाद स्थापित करने के लिए आतुर हैं, तो **वेदान्तनिष्ठ** इसे विशुद्ध ज्ञानयोगग्रन्थ ही मान रहे हैं। किसी एक ही निश्चित तत्त्वार्थ का प्रतिपा-

दक भी गीताशास्त्र स्वप्रतिष्ठाभूत वेदशास्त्र के सैद्धान्तिक आधार से पृथक् बनाया जाकर आज यों विभिन्न वादों का अनुगामी बनता हुआ, किंवा बनाया जाता हुआ 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे' घोषणा से सर्वथा विपरीत संशयनिवृत्ति के स्थान में संशयप्रवृत्ति का ही उपोद्बलक बनता जा रहा है, अथवा तो बन गया है।

और आज तो वही गीताशास्त्र एक वैसा लौकिक साधारण साहित्य ही प्रमाणित हो गया है, जिसके परिज्ञान के लिए वेदशास्त्र की कौन कहे, संस्कृतभाषा का बोध भी आवश्यक नहीं समझा जा रहा। केवल अपनी काल्पनिक अनुभूति, अपनें मनस्तन्त्रानुवर्त्ती यथेच्छ सत्यप्रयोग, एवं आस्था-श्रद्धा-शून्य रूक्ष बुद्धिवाद ही गीतार्थसमन्वय के लिए पर्य्याप्त साधन बनें हुए हैं। अपनीं इन्हीं काल्पनिक मान्यताओं के कारण वर्त्तमान युग के उन अभिनव व्याख्याताओं नें--(जिनका न तो भारतीय निगमागमपुराणस्मृत्यादि शास्त्रों से ही कोई सम्पर्क है, न संस्कृतभाषा का ही जिन्हें सम्पर्क प्राप्त है)-**अनासक्तियोग, निष्कामकर्म्मयोग, साम्यवाद, झञ्झातालमृदङ्गवाद्यसमाकुलित कीर्त्तनवाद,** आदि आदि अनेक वैसे मतवादों का ही सर्जन कर डाला है, जिनका गीताशास्त्र से यत्-किञ्चित भी तो सम्पर्क नहीं है। ऐसे कल्पित वादों से तो गीता के अक्षरार्थ का भी समन्वय सम्भव नहीं है। फिर रहस्यपूर्ण पारिभाषिक तत्त्वार्थ की तो कथा ही विदूर है। गीताशास्त्र के अनेक स्थल तो ऐसे हैं, जो विस्पष्टरूप से वेदवचनों के ही अनुवाद हैं।

उदाहरण के लिए- महर्षि-'**दीर्घतमा**' की सापिञ्ज्यविद्या से सम्बन्ध रखने वाले आत्मगति-विज्ञान का जिस 'आतिवाहिक-त्रिलोकी' के रूप में स्वयं मूलसंहिता में विस्तार हुआ है, उसका एक मन्त्र है—

द्वे सृती अशृणवं पितॄणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत् समेति यदन्तरा पितरं मातरञ्च॥

—ऋक्संहिता १०।८८।१२।

अक्षरार्थ मन्त्र का यही है कि--"हमनें पितरों, देवताओं, एवं मरणधर्म्मा मनुष्यों की दो ही प्रेतगतियाँ सुन रक्खीं हैं। इस पार्थिव-विश्वप्रतिष्ठा को छोड़ कर विकम्पित होने वाले प्राणी-मात्र इन्हीं दोनों गतियों में से किसी एक गति का (कर्म्मानुसार) अनुगमन करते रहते हैं, जो कि प्राणी माता पृथिवी, तथा द्यु पिता के गर्भ में प्रतिष्ठित हैं"। उपनिषत् ने इन्हीं दोनों मार्गों का क्रमशः **अर्चिमार्ग,** तथा **धूममार्ग,** नामों से विश्लेषण किया है। उत्तरायणपथात्मक सौर-ज्योतिर्म्मय मार्ग अर्चिमार्ग है, यही गीता के शब्दों में '**शुक्लमार्ग**' है। दक्षिणायनपथात्मक

वारुण-तमोमय मार्ग 'धूममार्ग' है, यही 'कृष्णमार्ग' है। मन्त्र-श्रुति ने-'द्वे स्रुती अशृणवम्' से इन्हीं दोनों का स्पष्टीकरण किया है, जिसका अनुवाद हुआ है गीता में इस रूप से—

शुक्ल-कृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वती मते ॥
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्त्तते पुनः ॥१॥
नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन ॥
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥२॥

—गीता ८। २६, २७।

एवमेव गीताशास्त्र का प्रत्येक सिद्धान्त सर्वात्मना वैदिक सिद्धान्तों से ही अक्षरशः अनुप्राणित है, जिस इस आर्ष-दृष्टिकोण की पुरातन-नूतन-सभी व्याख्याताओं नें आत्यन्तिक उपेक्षा कर ज्ञानविज्ञानकोशात्मक इस गीताशास्त्र को एक साम्प्रदायिक ग्रन्थ ही बना डाला है। भारतीय प्रज्ञा सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष विशुद्ध तत्त्ववाद के आधार पर गीताशास्त्र का समन्वय कर तन्मूला आचारनिष्ठा के द्वारा अपनी भावुकता का परित्याग कर ऐहिक-आमुष्मिक अभ्युदय-निःश्रेयस्-पथ का अनुशीलनात्मक (अनुकरणात्मक नहीं) अनुसरण करे, एकमात्र इसी कामना से राष्ट्रभाषा हिन्दी में यह गीतासाहित्य अनुमानतः २०००० (बीस सहस्र) पृष्ठों में उपनिबद्ध हुआ है, जिसमें से अबतक केवल ३००० तीन सहस्र-पृष्ठात्मक गीतासाहित्य ही प्रकाशित हो पाया है। दो शब्दों में गीतासाहित्य की रूपरेखा से भी नैष्ठिक पाठकों को अवगत करा दिया जाता है।

गीताभूमिका, गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय, गीताविज्ञानभाष्य, इस रूप से गीतासाहित्य तीन स्वतन्त्र महाखण्डों में विभाजित हुआ है, जिन इन तीनों महाखण्डों के प्रत्येक के क्रमशः ९-११-२८ ये अवान्तर खण्ड हुए हैं। सम्भूय ४८ अड़तालीस अवान्तर खण्डों में, तथा तीन महाखण्डों में गीतासाहित्य सम्पन्न हुआ है। अबतक **'गीताभूमिका'** नामक प्रथम महाखण्ड के अवान्तर ९ भूमिका-खण्डों में से केवल पाँच हीं खण्ड प्रकाशित हुए हैं, जिनमें पाँचवाँ यही **'बुद्धियोगपरीक्षात्मक पूर्वखण्ड'** माना जा सकता है। 'माना जा सकता है'-यह इसलिए कहा गया कि, वस्तुतः यह पूर्वखण्ड क्रमगणना के अनुसार ८ वाँ खण्ड है। आरम्भ में चार खण्ड तो कुछ वर्ष पूर्व हमनें क्रमशः ही प्रकाशित किए थे। तदनन्तर अपनी असमर्थता के कारण सभी प्रकाशन-प्रवृत्तियाँ विगत ५-७-वर्षों से सर्वथा अवरुद्ध हीं हो गईं थीं। विगत वर्ष में पुनः **'राजस्थान-वैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के अनुग्रह से प्रकाशन-प्रवृत्ति प्रक्रान्त हुई। एवं संस्थान के प्रधान सञ्चालक मन्त्री महाभाग की इच्छा के कारण क्रमपथ की उपेक्षा कर हमें प्रस्तुत ८ वें भूमिका-खण्ड का ही प्रकाशन करना पड़ा। **'अकरणान्मदकरणं श्रेयः'** न्याय से कुछ न होने से जो कुछ हो रहा है संस्थान के अनुग्रह से, उसे ही श्रेयःपन्था मान लिया गया है। नीचे लिखी तालिका से तथाकथित गीतासाहित्य की रूपरेखा से पाठक भलीभाँति परिचित हो सकेंगे।

(१) 'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड

(तदन्तर्गत अवान्तर ६ भूमिका—खण्ड)

——————*

१ १—गीताभूमिका—बहिरङ्गपरीक्षात्मक—प्रथमखण्ड ········ (बहिरङ्गपरीक्षा)

——————*

२—गीताभूमिका—अन्तरङ्गपरीक्षात्मक—'द्वितीयखण्ड' का 'क' विभाग (आत्मपरीक्षा)

२ ३—गीताभूमिका ,, ,, का 'ख' विभाग (ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)

४—गीताभूमिका ,, ,, का 'ग' विभाग (कर्म्मयोगपरीक्षा)

५—गीताभूमिका ,, ,, का 'घ' विभाग (ज्ञानयोगपरीक्षा)

——————*

६—गीताभूमिका-सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड का 'क' विभाग (भक्तियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)

३ ७—गीताभूमिका ,, ,, का 'ख' विभाग (भक्तियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)

८—गीताभूमिका ,, ,, का 'ग' विभाग (बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड)

९—गीताभूमिका ,, ,, का 'घ' विभाग (बुद्धियोगपरीक्षा-उत्तरखण्ड)

——————

त्रिखण्डात्मिका-गीताभूमिका-अवान्तर ९ खण्डात्मिका

तद्रूप—'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक

प्रथम महाखण्ड

१

———❀———

गीताभूमिका के उक्त ६ खण्डों की पृष्ठ–संख्या का अनुपात निम्न लिखित है—

१—बहिरङ्गपरीक्षा···	....	६००	(प्रकाशित)
२—आत्मपरीक्षा (क)	···	५००	(,,)
३—ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा (ख)	···	६००	(,,)*
४— कर्म्मयोगपरीक्षा (ग)	···	६००	(,,)*
५—ज्ञानयोगपरीक्षा (घ)	···	५००	(अप्रकाशित)
६ – भक्तियोगरीक्षा-पूर्वखण्ड (क)		८००	(,,)
७—भक्तियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (ख)		८००	(,,)
८—बुद्धियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (ग)		७००	(प्रस्तुत प्रकाशन)
९—बुद्धियोगपरीक्षा उत्तरखण्ड (घ)		८००	(अप्रकाशित)

५९०० पाँच हजार नौ सौ पृष्ठात्मक प्रथम महाखण्ड

१

——*——

२—'गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय' नामक द्वितीय महाखण्ड

(तदन्तर्गत अवान्तर ११ आचार्य्यखण्ड)

१—गीताकृष्णरहस्य	४००	अप्रकाशित
२—परात्परकृष्णरहस्य	४००	,,
३—पुरुषकृष्णरहस्य	४००	,,
४—सत्यकृष्णरहस्य	४००	,,
५—ईश्वरकृष्णरहस्य	४००	,,
६—प्रतिष्ठाकृष्णरहस्य	४००	,,
७—ज्योतिःकृष्णरहस्य	४००	,,

* चिह्नाङ्कित ३-४ दोनों खण्ड अब अप्राप्य हैं। अतएव ये भी पुनः प्रकाशन-सापेक्ष हैं।

८—परमेष्ठीकृष्णरहस्य	४००	अप्रकाशित
९—वैहायसकृष्णरहस्य	४००	,,
१०—पार्थिवकृष्णरहस्य	४००	,,
११—मानुषोत्तमकृष्णरहस्य	५००	,,

४५०० चार हजार पान्सौ पृष्ठात्मक द्वितीय महाखण्ड

२

—*—

३—'गीताविज्ञानभाष्य' नामक तृतीय महाखण्ड

(तदन्तर्गत अवान्तर २८ विज्ञानखण्ड)

१—विज्ञानभाष्यानुगत ऐतिहासिकगीता	३००
२— ,, कर्म्मत्यागानौचित्योपनिषद्विज्ञान	४००
३— ,, नित्यकर्म्मत्यागानौचित्योपनिषद्विज्ञान ...	३००
४— ,, बुद्धियोगविरोधिकर्म्मत्यागौचित्योपनिषद्विज्ञान ...	३००
५— ,, भगवन्मतसिद्धसनातनत्त्वोपनिषद्विज्ञान ...	३००
६— ,, लोकवृत्तोपनिषद्विज्ञान	४००
७— ,, बुद्धियोगाविरोधिकर्म्मज्ञानोपादेयत्त्वोपनिषद्विज्ञान	४००
८— ,, बुद्धियोगस्योभयात्मकत्त्वप्रतिपादनत्त्वोपनिषद्विज्ञान	४००
९— ,, बुद्धियोगसाधनकर्म्मयोगोपादेयत्त्वोपनिषद्विज्ञान	४००
१०— ,, कर्म्मफलकामासक्तिपरित्यागौचित्योपनिषद्विज्ञान	४००
११— ,, प्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
१२— ,, द्वादशविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
१३— ,, ईश्वरस्वरूपविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	४००
१४— ,, ईश्वरीययोगविभूतिविज्ञानोपनिषद्विज्ञान ...	४००

१५—विज्ञानभाष्यानुगत-ईश्वरोपासनविज्ञानोपनिषद्विज्ञान		...	४००
१६— ,, षड्विज्ञानोपनिषद्विज्ञानोपनिषद्विज्ञान	...	...	४००
१७— ,, त्रैगुण्यविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	...	...	४००
१८— ,, अश्वत्थविज्ञानोपनिषद्विज्ञान	...	...	४००
१९— ,, दैवासुरसम्पत्तियुक्तभूतसर्गोपनिषद्विज्ञान		...	४००
२०— ,, गुणकर्म्मप्रचयोपनिषद्विज्ञान	...	...	४००
२१— ,, अत्याज्यकर्म्मोपनिषद्विज्ञान	...	...	४००
२२— ,, ब्रह्मभूतविदेहोपनिषद्विज्ञान	...	...	४००
२३— ,, गीतानुगता राजर्षिविद्या	...	...	४००
२४— ,, गीतानुगता सिद्धविद्या	...	...	४००
२५— ,, गीतानुगता राजविद्या	...	...	४००
२६— ,, गीतानुगता आर्षविद्या	...	...	४००
२७— ,, चातुर्विद्यसारोद्धारोपनिषद्विज्ञान	...	...	३००
२८— ,, गीताफलश्रुत्युपनिषद्विज्ञान	...	...	२००

१०५०० दसहजार-पान्सौ पृष्ठात्मक तृतीय-महाखण्ड

३



१-'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका' नामक प्रथम महाखण्ड (९खण्डात्मक)--५९००पृष्ठात्मक

२--'गीताचार्य्यस्वरूपपरिचय' नामक द्वितीय महाखण्ड (११खण्डात्मक) ४५०० पृष्ठात्मक

३-'गीताविज्ञानभाष्य' नामक तृतीय महाखण्ड (२८खण्डात्मक) १०५०० पृष्ठात्मक

(अवान्तर ४८ खण्डात्मक, ३ महाखण्डात्मक गीतासाहित्य-२०९०० बीसहजार-नौसौ-पृष्ठात्मक)



महारम्भ इस गीतासाहित्य के माध्यम से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र की ज्ञान-विज्ञानात्मिका परिभाषाओं का ही स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। हमारी आस्था है कि, एकमात्र इस गीतासाहित्य के

आद्योपान्त अवलोकन से भी भारतीय शास्त्रों का समन्वय सम्भव बन सकता है। वेदशास्त्र की संक्षिप्त सूची बने हुए गीताशास्त्र ने वास्तव में सङ्केतरूप से सभी वैदिक विषयों का संकलन कर लिया है। एवं यही गीताशास्त्र की भारतीय अन्य दर्शनादि शास्त्रों की तुलना में अपूर्वता है, जिसके आधार पर ही यह आभाणक प्रसिद्ध हुआ है कि--

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपङ्काद् विनिःसृता॥

गीता न तो ज्ञानयोगशास्त्र है, न भक्तियोगशास्त्र है, एवं न कर्म्मयोगशास्त्र ही है। अपितु-गीता तो विशुद्ध **'बुद्धियोगशास्त्र'** है। बुद्धिवादात्मक वर्त्तमान युग में 'बुद्धि' शब्द बड़ा ही भ्रामक बना हुआ है। सभी तो आज के युग में अपने आप को बुद्धिवादी मान रहे हैं। सब अपने अपने बुद्धिवाद के आधार पर ही तो भारतीय शास्त्रों की व्याख्या के लिए सन्नीभूत हैं। इसीलिए तो आज-**'हम समझलेंगे, तब मानेंगे'** इस तर्क को अग्रणी बना कर बुद्धितुला के मापदण्ड से ही बुद्धिवादी शास्त्र की स्वरूप-व्याख्या में प्रवृत्त देखे सुने जा रहे हैं। और ऐसी दृष्टि-श्रुति को ही आज नाम दिया जा रहा है--**तत्त्वशोध (रिसर्च)**। १०-२० ग्रन्थों को सामने बखेर कर इधर-उधर से कुछ संग्रह कर-कहीं की ईंट-कहीं का रोड़ा-एकट्ठा कर अपने बुद्धिवाद के बल पर, दूसरे शब्दों में कल्पना के द्वारा जोड़-तोड़ बैठा कर अपने आप को तत्त्वद्रष्टा (द्रष्टा-डॉक्टर) मान बैठना हीं वर्त्तमान युग के बुद्धिवाद को 'इतिश्री' है, जिसका भारतीय तत्त्वदृष्टि से यत्किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। सम्भव है-'बुद्धियोग' शब्द से भी कुछ ऐसी ही भ्रान्त कल्पना कर ली जाय इस गीतासिद्धान्त के सम्बन्ध में भी। अतएव दो शब्दों में वेदशास्त्र-सम्मता बुद्धियोग-स्वरूप-व्याख्या का भी प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण अनिवार्य्य बन रहा है।

लोकदृष्टि से बुद्धियोग का फलितार्थ निकलता है-**'बुद्धिपूर्वक कार्य्य करना'**। शास्त्रीय दृष्टि में इस फलितार्थ का प्रवेश भी निषिद्ध है। अपितु इस दिशा में तो 'बुद्धियोग' का यही फलितार्थ निकलेगा कि-**"अपनी बुद्धि का स्वतन्त्ररूप से कोई उपयोग न कर शास्त्रप्रामाण्य के आधार पर शास्त्रीय विधि-विधानों के अनुसार स्वकर्त्तव्य-कर्म्मनिष्ठा में प्रवृत्त रहना हीं गीता का एकमात्र निर्णीत सिद्धान्त है। एवं यहीं सिद्धान्त 'बुद्धियोग' कहलाया है"**। 'बुद्धियोग' शब्द से ऐसा फलितार्थ कैसे, क्यों निकल आया ?, इस प्रश्न के समाधान के लिए अवश्य ही प्रज्ञाशील मानव अपनी बुद्धि का शास्त्रीय तत्त्वविषय के साथ योग कर-सकते हैं। इस साध्य बुद्धियोग (बुद्धिमानी) के द्वारा अवश्य ही आस्था-श्रद्धा-परिपूर्णा जिज्ञासा के

द्वारा सिद्ध बुद्धियोग (बुद्धि से अतीत योग) के तटस्थरूप से दर्शन किए जासकते हैं । कैसे ?, श्रूयताम् ! श्रुत्वा चाप्यवधार्य्यताम् ! ।

सम्पूर्ण विश्व में **ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्ति-अर्थशक्ति**-इन तीन शक्तियों का ही साम्राज्य उपलब्ध हो रहा है । बुद्धितन्त्र की चरम सीमा पर पहुँचे हुए नितान्त बुद्धिमान् भी मानव अपनी बुद्धि के द्वारा सुसूक्ष्म ईक्षण करते हुए इन तीन शक्तियों से अतिरिक्त चौथी शक्ति का समन्वय करने में सर्वथा असमर्थ ही बने रहते हैं । मानव का बुद्धियोग **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**-इन तीन शक्तियों पर ही विश्रान्त है । तीनों शक्तियाँ क्रमशः **अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत**-इन तीन तन्त्रों से अनुप्राणित हैं। ज्ञानक्षेत्र अधिदैवत है, क्रियाक्षेत्र अध्यात्म है, एवं अर्थक्षेत्र अधिभूत है । इन तीन क्षेत्रों के आधार पर ही लोकनिष्ठ बुद्धिमान मानवों नें अपने बुद्धिबल पर मानव की सुख--शान्ति के लिए क्रमशः- **ज्ञान-भक्ति-कर्म्म**-नामक तीन योग आविर्भूत कर लिए हैं, जो योग बुद्धिमान् विद्वत्समाज में सु-प्रसिद्ध हैं ।

जिस योग में साधन भी अधिभूत हों, साध्य भी (प्राप्तव्य) भी अधिभूत हों, उसी का नाम **'कर्म्मयोग'** है । जिस योग में साधन तो भौतिक हों, किन्तु साध्य अधिदैवत हों, उसी का नाम **'भक्तियोग'** है । एवं जिस योग में साधन भी आधिदैविक हों, एवं साध्य भी आधिदैविक ही हों, उसी नाम--**'ज्ञानयोग'** है । भौतिक-भौतिक कर्म्मयोग का मानव के अर्थशक्ति (भूतशक्ति) प्रधान पार्थिव **शरीर** से प्रधान सम्बन्ध माना गया है । दैविक-भौतिक-भक्तियोग का मानव के क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरीक्ष्य चान्द्र **मनस्तन्त्र** से प्रधान सम्बन्ध माना गया है । एवं दैविक-दैविक-ज्ञानयोग का मानव के ज्ञानशक्तिप्रधान दिव्य सौर **बुद्धितन्त्र** से प्रधान सम्बन्ध माना गया है । और यों तीनों योग मानव के बुद्धि-मनः-शरीर-तन्त्रों से समन्वित रहते हुए मानव के लोक-स्वरूप के संरक्षक बने हुए हैं । ये ही तीनों तन्त्र क्रमशः मानव के उस सुप्रसिद्ध प्राकृतिक जीवभाव के स्वरूपाधार बने हुए हैं, जिस पराप्रकृति (अक्षर) रूप जीवभाव की तीनों कलाएँ क्रमशः **'वैश्वा-नर-तैजस-प्राज्ञ'** नाम से प्रसिद्ध हैं ।

अर्थशक्ति-प्रधान पार्थिव अग्नि से अनुप्राणिता **'वैश्वानर'**-कला पार्थिव शरीर से अभिन्न रहती हुई कर्म्मयोग से समन्वित है । क्रियाशक्ति-प्रधान आन्तरीक्ष्य वायु से अनुप्राणिता **'तैजस'**-कला आन्तरीक्ष्य चान्द्र मनस्तन्त्र से अभिन्न रहती हुई भक्तियोग से समन्वित है । एवं ज्ञानशक्तिप्रधाना दिव्या-सौरी-बुद्धि से अनुप्राणिता **'प्राज्ञ'**-कला दिव्य सौर

बुद्धितन्त्र से अभिन्न रहती हुई ज्ञानयोग से समन्वित है। इसप्रकार जिस सीमापर्य्यन्त लोकनिष्ठ मानव की बुद्धिमानी अनुधावन कर सकती है, उस सीमापर्य्यन्त इन तीन लौकिक योगों से अतिरिक्त सचमुच किसी चौथे बुद्धि से अतीत अपूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कर लेना ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्ति-समन्वित प्राकृत बुद्धिमान् मानव के लिए सर्वथा असम्भव ही तो है। ऐसी स्थिति में यदि बुद्धिमान् भारतीय व्याख्याताओं नें गीताशास्त्र के 'योग' शब्द से **'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म'** इन तीनों योगों का ही ग्रहण करते हुए गीताशास्त्र को **'ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगग्रन्थ'** मान लिया हो, तो इन बुद्धिमानों का कोई अपराध नहीं माना जासकता। इसी लोकसंग्रह दृष्टि-से लोकभावुकता के संरक्षण के अनुबन्ध से हम भी थोड़ी देर के लिए उक्त बुद्धिगम्य समन्वय के आधार पर गीताशास्त्र को इन लोकप्रचलित तीनों योगों का प्रतिपादिक लौकिक ग्रन्थ ही मान लेते हैं, जिस त्रितन्त्रात्मक बुद्धिवादपूर्ण समन्वय का नीचे लिखी तालिका से भलीभाँति स्पष्टीकरण हो रहा है।

१—अधिभूतम्—(अर्थमयम्)—तदनुगता अर्थशक्तिः—पार्थिवी-आग्नेयी

२—अध्यात्मम्—(क्रियामयम्)—तदनुगता क्रियाशक्तिः—चान्द्री-वायव्या

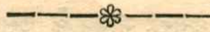
३—अधिदैवतम्—(ज्ञानमयम्)—तदनुगता ज्ञानशक्तिः—सौरी-ऐन्द्री



१—पार्थिवं—शरीरतन्त्रम् (अग्निप्रधानम्)—तत्समन्विता—वैश्वानरकला—आग्नेयी

२—चान्द्रं—मनस्तन्त्रम् (वायुप्रधानम्)—तत्समन्विता—तैजसकला—वायव्या

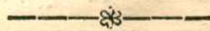
३—सौरं—बुद्धितन्त्रम् (इन्द्रप्रधानम्)—तत्समन्विता—प्राज्ञकला—ऐन्द्री



१—अर्थशक्तियुता—वैश्वानरकला—कर्म्मयोगेन समन्विता (सोऽयं कर्म्मयोगः)

२—क्रियाशक्तियुता—तैजसकला—भक्तियोगेन समन्विता (सोऽयं भक्तियोगः)

३—ज्ञानशक्तियुता—प्राज्ञकला—ज्ञानयोगेन समन्विता (सोऽयं ज्ञानयोगः)



इसप्रकार बुद्धिपूर्वक 'योग' के स्वरूपान्वेषण में प्रवृत्त प्राकृत मानव को प्राकृतिक विश्व में तथाकथित तीन हीं तो बुद्धियोग (बुद्धिमत्ता-पूर्ण योग) उपलब्ध हो रहे हैं। ऐसी स्थिति में 'बुद्धियोग'

शब्द के द्वारा इन तीन बुद्धिव्याख्या-सम्मत योगों के अतिरिक्त चौथे अबुद्धियोगात्मक अश्रुत-अदृष्ट-पूर्व बुद्धियोग की कल्पना भी कैसे कर सकते थे गीता के व्याख्याता वे लोकमानव । इसीलिए तो देवयुगात्मक सत्ययुग से आरम्भ कर आज पर्य्यन्त सुगुप्ततम 'बुद्धियोग' सिद्धान्त यदि व्याख्याताओं के लिए परोक्ष ही बनता आ रहा हो, तो इसमें बुद्धिमान् व्याख्याताओं का कोई भी तो दोष नहीं माना जा सकता ।

कैसे अबुद्धियोगात्मक बुद्धियोग का स्वरूप-बोध हो ?, प्रश्न का एकमात्र समाधान है— 'पुरुषार्थ' का अनुगमन । पुरुषार्थ से मानव अवश्यमेव परोक्ष तत्त्व का अनुग्रह प्राप्त करने में समर्थ बन जाता है । मानव का अपना (जीवभाव का) प्रयास-प्रयत्न-चेष्टा-आदि का नाम क्या पुरुषार्थ है ? । नहीं, कदापि नहीं । मानव 'पुरुष' है कहाँ ? । यह तो अपने वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूप जीवभाव से अक्षरप्रकृतिरूप ही बना हुआ है । ऐसे जीवभावात्मक प्राकृत मानव का प्रयास तो 'प्रकृत्यर्थ' ही माना जायगा, जिसे भ्रान्तिवश मानव 'पुरुषार्थ' कहता चला आ रहा है प्राकृतिक व्यामोहन के कारण । 'पुरुष' नाम है लोकातीत-विश्वातीत उस अव्ययात्मा का, जो गीता के ही शब्दों में— **'यो बुद्धेः परतस्तु सः'** के अनुसार मानवीय बुद्धि से सर्वथा परे है, अतीत है । बुद्धि से अतीत अव्ययपुरुष ही वास्तविक पुरुष है । इस पुरुष से सम्बद्ध प्रयास ही **'पुरुषार्थ'** है, जो कि किया नहीं जाता, अपितु स्वतः हो रहा है । इस स्वतः प्रवृत्त पुरुषार्थ के साथ मानवीय प्रकृत्यर्थरूप जीव के प्रयासों का सर्वात्मना समर्पण हीं मानव की कृतकृत्यता है, जिसका गीता ने इन शब्दों में स्वरूप— विश्लेषण किया है—

यत्करोषि, यदश्नासि, यज्जुहोसि, ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय ! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥१॥
मन्मना भव, मद्भक्तो, मद्याजी, मां नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥२॥

आरम्भ में पार्थिव **शरीर**, तदनन्तर **इन्द्रिय**, एवं **इन्द्रियार्थ** । तदुपरि **चान्द्र मन** । तदुपरि **सौरी बुद्धि** । प्राकृत मानव के प्राकृत जीवभाव से सम्बन्ध रखने वाली **वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ-रूपा अग्नि-वायु-इन्द्र**-लक्षणा **अर्थ-क्रिया-ज्ञान**-शक्तियों का पर्य्यवसान इस सौरी बुद्धि पर पर्य्यवसित है । जबतक मानव इन तीनों तन्त्रों के व्यामोहन में आसक्त बना रहता है, तबतक इसे कदापि बुद्धि से पर अवस्थित 'अव्ययपुरुष' का अनुग्रह उसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता, जैसे कि त्रैलोक्य के अधिपति अग्नि-वायु-इन्द्र-नामक तीनों देवता अपनी ज्ञान-क्रिया-अर्थ-शक्तियों को ही, दूसरे

शब्दों में इस शक्तिभावसमन्विता बुद्धिमानी को ही सर्वस्व मानते हुए-'**अस्माकमेवेदं खलु भुवनम्**' कहते हुए विश्वविजय को अपना हीं विजय मान बैठते हुए इसी स्वस्वरूप-व्यामोहन से लोकातीत अव्ययब्रह्म के स्वरूप-बोध से वञ्चित थे। आगे चल कर '**हैमवती उमा**' के अनुग्रह से इन का यह प्राकृत व्यामोहन दूर होता है, एवं इस महाशक्ति महामाया के अनुग्रह से ही इन्हें—'**ब्रह्मणो वा विजये महीयध्वम्**' (केनोपनिषत्) रूप से उद्‌बोधन प्राप्त होता है। **पीताम्बरा-हैमवती उमा माहेश्वरी** से अभिन्न मायी महेश्वरावतार **पीताम्बरधारी पूर्णेश्वर अव्ययकृष्ण** ने इसी औपनिषद सिद्धान्तबिन्दु का इन शब्दों में स्पष्टीकरण किया है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥
—गीता ७।१४।

मायाशक्तिरूपिणी चिच्छक्ति के अनुग्रह से ही मानव का प्राकृत व्यामोहन—पाश टूटता है। एवं तभी—पाश-विमुक्त मानवपशु अव्ययपुरुषानुग्रह से 'पुरुष' बनता हुआ लोकातीत बुद्धियोगसिद्धान्त का अनुगामी बनने पाता है। अपने बुद्धितन्त्र को लोकातीत अव्ययपुरुष के प्रति सर्वात्मना समर्पित कर देने वाला, बुद्धिवादात्मक-व्यामोहनों से पृथक् बन जाने वाला मानव हीं अपने बुद्धितन्त्र को अव्ययपुरुष के अनुग्रह से समन्वित कर सकता है। यही इसका अबुद्धियोगात्मक सिद्धावस्थापन्न सहज वह 'बुद्धियोग' है, जिसका लोकानुगत ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों से कोई सम्बन्ध नहीं है। 'ददामि बुद्धियोगं तम्' (गीता) के अनुसार स्वयं अव्ययेश्वर के अनुग्रह से ही यह पुरुषार्थरूप बुद्धियोग प्राप्त हुआ करता है। इसी बुद्धियोगानुबन्ध से गीताशास्त्र तत्त्वतः 'बुद्धियोग-शास्त्र' ही बना हुआ है, जिसका आस्थाश्रद्धाशून्य रूक्ष बुद्धिवादों से, एवं तदनुप्राणिता बुद्धिमानियों से कोई सम्पर्क नहीं है।

अव्ययपुरुषानुगत स्वतःसिद्ध नित्य बुद्धियोग का उदय कैसे हो ?, गीताशास्त्र इसी प्रश्न का समाधान कर रहा है। तात्पर्य्य-जिस बुद्धियोग के द्वारा सिद्ध बुद्धियोग से मानव अनुगृहीत होता है, उस साधनभूत बुद्धियोग का स्वरूप-विश्लेषण करना हीं इस '**बुद्धियोगशास्त्र**' (गीताशास्त्र) का एकमात्र मुख्य उद्देश्य है। मानवीय बुद्धि के साथ अव्ययपुरुष का योग तो स्वतः सिद्ध है। दोष केवल यही है कि, मानव अमुक दोषों के कारण कुछ एक दोषावह संस्कारों

(कुसंस्कारों) के आवरण से अपनी बुद्धि को आवृत करता हुआ स्वतःसिद्ध भी उस अव्ययपुरुष-विभूतियोग से अपने आपको (जीव-भाव को) पृथक् कर लेता है। बुद्धि के उन असख्य दोषों का शास्त्र ने '**अविद्या--अस्मिता--आसक्ति--अभिनिवेश**' इन चार प्रधान दोषों में अन्तर्भाव मान लिया है। इन चारों दोषों की समष्टि दर्शनभाषा में जहाँ 'क्लेश' ※ कहलाई है, वहाँ विज्ञानभाषा में इन्हें '**कलिल**' कहा गया है। बुद्धि जबतक इन चारों में से किसी एक भी कलिलदोष से युक्त रहती है, तबतक इस का साक्षाद्रूप से अव्ययब्रह्म के साथ योग सम्भव नहीं। इन चारों कलिलों को हटाने के लिए चार प्रकार के '**भग**' भावों का बुद्धि को अनिवार्य्यरूप से अनुगमन करना पड़ता है । '**अविद्या**' नामक कलिल हटता है '**ज्ञान**' नामक भग से। '**अस्मिता**' कलिल का पलायन होता है- '**ऐश्वर्य्य भग**' से। '**आसक्ति**' कलिल निवृत्त होता है '**वैराग्यभग**' से। एवं '**अभिनिवेश**' कलिल विनष्ट होता है '**धर्म्मभग**' से। इन चारों भगों का जब बुद्धि में उदय हो जाता है, तो सहैव यश, और श्री, नामक दो भग और उदित हो जाते हैं। प्राकृतिक विश्व में इन ६ ओं भगों के कौन से प्रमुख स्थान हैं ?, इस प्रश्न का भी दो शब्दों में समन्वय कर लीजिए।

सत्यलोकाधिष्ठाता अव्यक्त **स्वयम्भू** का '**वैराग्य**' से प्रधान सम्बन्ध है । तपोलोका-धिष्ठाता **सूत्रात्मा** का '**ज्ञान**' से प्रधान सम्बन्ध है । जनल्लोकाधिष्ठाता **परमेष्ठी** का '**ऐश्वर्य्य**' से प्रधान सम्बन्ध है । महः-एवं स्वर्लोकाधिष्ठाता **सूर्य्य** का '**धर्म्म**' से प्रधान सम्बन्ध है । भुवर्लोकाधिष्ठाता **चन्द्रमा** का '**यशः**' से प्रधान सम्बन्ध है। एवं भूलोकाधिष्ठात्री **पृथिवी** का '**श्रीः**' से प्रधान सम्बन्ध है। इसप्रकार सप्तलोकात्मक विश्व में इस क्रम से ६ ओं भग प्रतिष्ठित हैं । इस महाविश्व के केन्द्र में सूर्य्यनारायण प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि-÷ '**नैवोदेता--नास्तमेता, मध्ये एकल एव स्थाता**' (छान्दो० उप०) इत्यादि श्रुति से प्रमाणित है। सूर्य्य ही आधिदैविक विश्व की 'बुद्धि' है। केन्द्रभाव के कारण सम्पूर्ण विश्व--भगों का केन्द्रस्थ बुद्धिस्थानीय सूर्य्य में समन्वय हो रहा है। अतएव यह षड्विध भगसम्पत्ति बुद्धि से समन्वित मान ली गई है।

※-**अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।**

—पातञ्जलयोगसूत्र

÷ **नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः ।**
उदयास्तमनं चैव दर्शनादर्शनं रवेः ॥

—पुराण

अव्यक्तस्वयम्भूः—

७–सत्यलोकः	—स्वयम्भूरव्यक्तात्मा	(१)—अव्यक्तम्	(वैराग्यभगः)
६–तपोलोकः	—सूत्रात्मा	(२)—सत्त्वम्	(ज्ञानभगः)
५–जनल्लोकः	—परमेष्ठी-महानात्मा	(३)—महान्	(ऐश्वर्य्यभगः)
४–मह्र्लोकः ३–स्वर्लोकः	—सूर्य्यः–विज्ञानात्मा	(४)—बुद्धिः	(धर्म्मभगः)
२–भुवर्लोकः	—चन्द्रमाः–प्रज्ञानात्मा	(५)—मनः	(यशोभगः)
१–भूलोकः	—पृथिवी–भूतात्मा	(६)—शरीरम्	(श्री–भगः)

'तद्यत्–किञ्चार्वाचीनमादित्यात्, सर्वं तन्मृत्युनाऽऽप्तम्' (शत० १० के) अनुसार सूर्य्य से नीचे अवस्थित चान्द्र, एवं पार्थिव विवर्त्त मर्त्य–क्षर–प्रधान हैं। अतएव तदनुबन्धी यशः, और श्रीः, नामक दोनों चान्द्र–पार्थिव–भगों की अमृतसूर्य्यानुबन्ध से स्वतन्त्र गणना नहीं होती। फलतः अमृतसूर्य्य की दृष्टि से मध्यस्थ सूर्य्य के चार ही भग प्रधान बने रह जाते हैं। इन चार भगों से बुद्धि चतुर्विध भगसम्पत्तियों से समन्वित बनी हुई है। अतएव साधनभूत एक ही बुद्धियोग क्रमशः वैराग्यबुद्धियोग, ज्ञानबुद्धियोग, ऐश्वर्य्यबुद्धियोग, धर्म्मबुद्धियोग, इस रूप से चार भागों में विभक्त हो रहा है। साधनभूत इन चारों बुद्धियोगों से, इनके अनुष्ठान–अनुगमन से बुद्धिगत अविद्या-अस्मिता-आदि चारों कलिल निवृत्त हो जाते हैं ※।

※ यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥
—गीता

बुद्धि के यच्चयावत् व्यामोहन शरदभ्रवत् विलीन हो जाते हैं। ऐसी शुद्ध-सत्त्व-बुद्धि, एवं तदनुगत शुद्ध सत्त्वनिष्ठ जीवात्मा, दोनों अव्ययब्रह्मरूप आत्मदेव के सिद्धावस्थापन्न अबुद्धि-योगात्मक सहज बुद्धियोग से युक्त बन जाते हैं, जिस इत्थंभूत बुद्धियोग की कामना निम्न लिखित वचन से अभिव्यक्त हुई है—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इसलिए

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत!
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

—गीता १८।६२।

प्राचीन जिन व्याख्याताओं नें गीताशास्त्र को **'ज्ञानयोग-ग्रन्थ'** माना है, उनकी ज्ञान-योगपरिभाषा है—**'कर्म्मत्यागलक्षणा सांख्यनिष्ठा'**। कर्म्मत्याग सर्वथा असम्भव है गीता-की दृष्टि में। अतएव लोकसंग्राहक भगवान् ने इस कर्म्मत्यागलक्षणा ज्ञानयोगनिष्ठा में कर्म्म का समावेश कर इसे भी बुद्धियोगसम्पत् प्रदान की। एवं यही गीता में संशोधित 'ज्ञानयोग' कह-लाया, जिसका नामकरण हुआ—**'ज्ञानबुद्धियोग'**।

जिन व्याख्याताओं नें गीता को **'भक्तियोगग्रन्थ'** माना, उनकी भक्तिपरिभाषा में गुणभा-वान्विता कामना येनकेनरूपेण समाविष्ट रही, जो कि कामना गीतादृष्टि से सर्वथा त्याज्या है। इस कामना के त्याग का समावेश करते हुए भगवान् ने इसे भी बुद्धियोगनिष्ठा प्रदान की। एवं यही संशोधित भक्तियोग गीतापरिभाषा में **'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'** कहलाया।

जिन कर्म्मासक्त कर्म्मठों नें गीता को **'कर्म्मयोगग्रन्थ'** माना, उन की 'कर्म्मपरिभाषा' बनी—"सम्पूर्ण इच्छाओं के पूरक यज्ञ-तप-दान-इष्ट-आपूर्त्त-दत्त-"लक्षण काम्य षट्-कर्म्मों का अनु-गमन"। भगवान् ने इस में से भी 'इच्छा'-रूपा कामना का बहिष्कार किया। एवं इसे भी 'बुद्धियोगसम्पत्' प्रदान की लोकसंग्राहक भगवान् ने। यही संशोधित कर्म्मयोग गीतापरिभाषा में-**'धर्म्मबुद्धियोग'** कहलाया।

ज्ञान-ऐश्वर्य्य-धर्म्म नामक तीनों बुद्धियोग लोकप्रचलित ज्ञान-भक्ति-कर्म्म-योगों के ही संशोधितरूप बनें, जिनका गीताशास्त्र ने संग्रह कर लिया है इस विशुद्धिकरण के साथ। भगवान्

का अपना मन्तव्य है चौथा अव्ययब्रह्मानुगत **'वैराग्यबुद्धियोग'** नामक 'योग', जिसे भगवान् ने गीताशास्त्र में यत्र तत्र **'योग'** नाम से भी व्यवहृत किया है। यही गीताशास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य **'बुद्धियोग'** है, जिसके कारण गीताशास्त्र तत्त्वतः **'बुद्धियोगशास्त्र'** ही प्रमाणित हो रहा है।

कामनात्यागात्मक संशोधित कर्म्मयोगात्मक **'धर्म्मबुद्धियोग'** के स्वरूप-विश्लेषण के लिए ही **'कर्म्मयोगपरीक्षा'** नामक भूमिकाखण्ड उपनिबद्ध हुआ है। कामनात्यागात्मक संशोधित भक्तियोगात्मक-**'ऐश्वर्य्यबुद्धियोग'** के स्वरूपनिरूपण के लिए ही खण्डद्वयात्मिका **'भक्तियोगपरीक्षा'** समन्वित हुई है। कर्म्मसंग्रहात्मक संशोधित ज्ञानयोगात्मक- **'ज्ञानबुद्धियोग'** के समन्वय के लिए ही **'ज्ञानयोगपरीक्षा'** नामक भूमिकाखण्ड उपनिबद्ध हुआ है। शेष रह जाता है भगवत्सम्मत गीतासिद्धान्तरूप अव्ययब्रह्मयोगानुगत **'वैराग्यबुद्धियोग'** नामक **'बुद्धियोग'**। इसी के स्वरूप-विश्लेषण के लिए प्रस्तुत **'बुद्धियोगपरीक्षा'**-पूर्वखण्ड बुद्धियोगनिष्ठ मानवश्रेष्ठों के अनुरञ्जन के लिए प्रस्तुत हो रहा है, जिसके प्रतिपाद्य विषयों के सम्बन्ध में दो शब्द निवेदन करते हुए प्रास्ताविक उपरत किया जा रहा है।

त्रिखण्डात्मिका **'गीताविज्ञानभाष्यभूमिका'** के तृतीय-'सर्वान्तरतमपरीक्षा' नामक तृतीय-खण्ड के 'क-ख-ग-घ' इन चार अवान्तर खण्डों में से प्रकृत का **'बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड'** नामक क्रमप्राप्त आठवाँ 'ग' विभागात्मक अवान्तर खण्ड है, जिसमें प्रधानरूप से निम्न लिखित तीन प्रकरण समाविष्ट हैं—

१—बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन—१ पृष्ठ से ३७६ पृष्ठपर्यन्त
२—बुद्धियोगानुगत-विद्यास्वरूपनिर्वचन—३७७ पृष्ठ से ६४४ पृष्ठपर्य्यन्त
३—बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार—६४५ पृष्ठ से ६६२ पृष्ठ पर्य्यन्त

'बुद्धियोगस्वरूप-निर्वचनात्मक' प्रथम प्रकरण में चार अवान्तर स्तम्भ हैं। इन चारों अवान्तर स्तम्भों में प्रत्येक में क्रमशः १४-१५१-५६-७५-अवान्तर परिच्छेद हैं। चौदह (१४) अवान्तर-परिच्छेदात्मक **'सन्दर्भसङ्गति'** नामक प्रथम स्तम्भ में पूर्वसन्दर्भसङ्गतिपूर्वक भूमिका-खण्डों के निरूपित, तथा निरूपणीय विषयों की रूपरेखा का स्पष्टीकरण हुआ है।

एकसौ इक्यावन (१५१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-**'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण'** नामक द्वितीय स्तम्भ में बुद्धियोगाधिष्ठाता आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाङ्मय-पञ्चकल अव्ययब्रह्म

नामक सच्चिदानन्दब्रह्म की आनन्दकला-चित्कला-सत्ताकला-का सुविशद वैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए सर्वयोगाधिष्ठाता-सर्वयोगप्रवर्त्तक योगेश्वर षोडशी विश्वेश्वर प्रजापति का ही उपबृंहण हुआ है।

छप्पन (५६) अवान्तर परिच्छेदात्मक तीसरे-'**योगेश्वरानुगत योग का स्वरूप निरूपण**' नामक स्तम्भ में योगेश्वर के **अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-विश्वसृट् (विकारक्षर)** नामक चार पादों से अनुप्राणित। सिद्ध योगचतुष्टयी का, तथा **वैराग्यबुद्धियोग-ज्ञानबुद्धियोग-ऐश्वर्य्य बुद्धियोग-धर्म्मबुद्धियोग**-इन चार साध्य बुद्धियोगों का क्रमशः स्वरूप-विश्लेषण हुआ है।

पिचहत्तर (७५) अवान्तर परिच्छेदात्मक चौथे-'**बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन**' नामक स्तम्भ में प्रज्ञान मन की स्वरूप-व्याख्या करते हुए प्रज्ञान मन पर प्रतिबिम्बरूप से प्रतिष्ठित 'विज्ञान' नामक 'बुद्धि'-तत्त्व का ही तात्त्विक नैगमिक स्वरूप-विश्लेषण हुआ है। सर्वान्त में इसी चतुर्थ स्तम्भ में **१-बुद्धि, २-मनीषा, ३-धिषणा, ४-धी, ५-प्रज्ञा, ६-शेमुषी, ७-मति, ८-प्रेक्षा, ९-उपलब्धि, १०-चित्, ११-संवित्, १२-प्रतिपत्, १३-ज्ञप्ति, १४-चेतना १५-विज्ञान**, बुद्धिस्वरूप संग्राहक इन पन्द्रह शब्दों का वैज्ञानिक विभिन्न इतिहास बतलाते हुए बुद्धि-सम्बन्धी 'योग' शब्द के ही तात्त्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत खण्ड का प्रथम प्रकरण उपरत हुआ है।

(१)-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम प्रकरण—

१—सन्दर्भसङ्गति (१४ अवान्तरपरिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
२—योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूप निरूपण (१५१ परि० द्वितीयस्तम्भ)
३—योगेश्वरानुगत 'योग' का स्वरूपनिरूपण (५६ परि० तृतीयस्तम्भ)।
४—'बुद्धि'तत्त्व स्वरूप दिग्दर्शन (७५ परि० चतुर्थस्तम्भ)।

१

—❀—

'**बुद्धियोयानुगत-विद्यास्वरूप-निर्वचन**' नामक द्वितीय प्रकरण में भी चार ही अवान्तर स्तम्भ समाविष्ट हुए हैं, जिनमें प्रत्येक में क्रमशः १२१-४१-३४-४८-अवान्तर परिच्छेदों का समावेश हुआ है।

एकसौ इक्कीस (१२१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'**धर्म्मबुद्धियोगानुगत आर्षविद्या-स्वरूपनिर्वचन**' नामक प्रथम स्तम्भ में ज्ञानानुगता **शास्त्रविद्या**, पौरुषानुगता **शस्त्रविद्या**, परिग्रहसंग्रहात्मिका **वाणिज्यविद्या**, एवं गुणभावान्विता **शिल्पविद्या**, इन चार विद्याओं का दिग्-दर्शन कराया गया है। आगे चल कर भारतीय राष्ट्रकल्पना, विविध विद्यास्वरूप-परिचय, धर्म्मानुगत स्वधर्म्म-परधर्म्म-मतवादादि का स्वरूपपरिचय, आदि आदि अवान्तर अनेक विषयों का स्पष्टीकरण करते हुए निष्कामकर्म्म की वैज्ञानिक स्वरूप-व्याख्या हुई है। एवं तदाधार पर ही धर्म्मबुद्धियोगा-नुगता '**आर्षविद्या**' के स्वरूप-समन्वय की चेष्टा हुई है।

इकतालीस (४१) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'**ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्यास्वरूप-निर्वचन**' नामक द्वितीय स्तम्भ में ऐश्वर्य्य-प्रवर्त्तक 'ईश्वर' के अनेक विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। अभिमान, और अतिमान की स्वरूपव्याख्या प्रस्तुत करते हुए मन और वाक् के अहंश्रेयोभाव का चिरन्तन इतिहास व्यक्त हुआ है। आगे चल कर ईश्वर के ऐश्वर्य्य, जीव के ऐश्वर्य्य का स्वरूप परिचय कराते हुए **विभूति-महिमा-साहस्री-पुनःपद-विवर्त्त**-आदि भावों का स्वरूप-समन्वय हुआ है। अध्यात्मतन्त्र से सम्बन्ध रखने वाले चार प्रकार के मनस्तन्त्रों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐश्वर्य्य की प्रतिबन्धिका 'अस्मिता' का स्वरूप-निरूपण हुआ है। सर्वान्त में विकास के स्वाभाविक, तथा आगन्तुक स्वरूपों का दिग्दर्शन कराते हुए ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगता **राजविद्या** की ही स्वरूपव्याख्या हुई है।

चौतीस (३४) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'**ज्ञानबुद्धियागानुगत-सिद्धविद्यास्वरूप-निर्वचन**' नामक तृतीय स्तम्भ में सर्वप्रथम ज्ञानावरक '**आवरण**' का स्वरूप परिचय कराया गया है। हिरण्यगर्भ सूर्य्य के चार 'पाप्मा' विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराते हुए योगत्रयी के आधारभूत आत्म-विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। गुण-स्वरूपपरिचय, कलिल-स्वरूपपरिचय, मोह-स्वरूपपरिचय, त्रैगुण्य संघर्ष, आदि आदि अवान्तर विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए सर्वान्त में मोहकलिल-निवर्त्तिका ज्ञानबुद्धियोगानुगता **सिद्धविद्या** का ही स्वरूपोपबृंहण हुआ है।

अड़तालीस (४८) अवान्तर परिच्छेदात्मक-'**वैराग्यबुद्धियोगानुगत-राजर्षिविद्या-स्वरूप-निर्वचन**' नामक चतुर्थ स्तम्भ में सर्वप्रथम '**वैराग्य**', और '**आसक्ति**' (रागासक्ति, एवं द्वेषा-सक्ति) शब्दों के लोकप्रचलित अर्थों का दिग्दर्शन कराया गया है। अनन्तर गीता में पठित '**त्याग**'

शब्द की स्वरूपव्याख्या हुई है। आगे चलकर **तपस्वी-योगी-ज्ञानी-कर्म्मठ**-आदि श्रेणिविभागों का तात्त्विक स्वरूपसमन्वय हुआ हैं। तदनन्तर राग-द्वेष-मोह-भावों का वैज्ञानिक स्वरूप-परिचय कराते हुए रागाकर्षणात्मक प्रेम के **श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम-रति**-नामक पाँच भेदों की स्वरूप-व्याख्या हुई है। रजोगुणानुबन्धी तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले रजोगुण के त्रिवृद्भावों का स्वरूप परिचय कराते हुए वैराग्य के गीतासम्मत तात्विक स्वरूप का समन्वय हुआ है। सर्वान्त में आत्मस्थानत्रयी से सम्बन्ध रखने वाले सम-विषम-योगों का स्वरूप दिग्दर्शन कराते हुए वैराग्य-बुद्धियोगानुगत **'राजर्षिविद्या'** का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय हुआ है। और यों इन चार स्तम्भों में प्रस्तुत खण्ड का द्वितीय प्रकरण सम्पन्न हुआ है।

(२)–'बुद्धियोगानुगत–विद्यास्वरूप–निर्वचन' नामक द्वितीय प्रकरण—

१–धर्म्मबुद्धियोगानुगत—आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन (१२१ परिच्छेदात्मक प्रथमस्तम्भ)।
२–ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचन (४१ परिच्छेदात्मक द्वितीयस्तम्भ)।
३–ज्ञानबुद्धियोगानुगत—सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन (३४ परिच्छेदात्मक तृतीयस्तम्भ)।
४–वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन (४८ परिच्छेदात्मक चतुर्थस्तम्भ)।

२

—*—

तीसरा-**'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार'** नामक प्रकरण है, जिस में अवान्तर १० दस परिच्छेद समाविष्ट हैं। **तृप्ति-तुष्टि-पुष्टि-भुक्ति**--नाम की गुणचतुष्टयी की स्वरूपव्याख्या, तदनुगता बुद्धियोगचतुष्टयी, पुरुषविद्यानुगता पुरुषयोगचतुष्टयी, प्रकृत्यनुगता प्रकृतियोगचतुष्टयी, विकृति-विद्यानुगता विकृतियोगचतुष्टयी, आदि आदि परिशिष्ट विषयों का दिग्दर्शन कराते हुए विविध तालिकाओं के माध्यम से सिंहावलोकनदृष्ट्या अष्टस्तम्भात्मक उक्त दोनों प्रकरणों का स्वरूपोप-संहार ही हुआ है। और यों इन तीन प्रकरणों–आठ स्तम्भों–तथा ५५० (पान्सौ पचास) अवान्तर परिच्छेदों से कृतशरीरी प्रस्तुत **बुद्धियोगपरिक्षा**-पूर्वखण्ड बुद्धिनिष्ठों की सेवा में प्रणत-भाव से उपस्थित हो रहा है। विशेष वैज्ञानिक विषयों के स्पष्टीकरण के लिए लगभग १७ रेखाचित्र, तथा २०७ के लगभग (तालिकारूप से) परिलेख भी समाविष्ट हुए हैं। शोधसंस्थान की आर्थिक सीमाओं के अनुबन्ध से तिरङ्गे चित्र प्रकाशित नहीं किए जा सके, जो कि विभक्त विषयों की दृष्टि से आवश्यक थे। एवमेव प्रेस–प्रतिलिपि–संशोधन–आदि आदि में

सर्वथा एकाकीरूप से व्यस्त रहने के कारण प्रकाशन भी जैसा व्यवस्थित-सुन्दर होना चाहिए था, नहीं हो सका है, जिन इन अवश्यंभाविनी त्रुटियों के लिए हम क्षमाप्रार्थी हैं।

कृतज्ञ हैं हम उस **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान'** के प्रति, जिसके अनुग्रह से अनेक वर्षों से अवरुद्धा प्रकाशनप्रवृत्ति को पुनः प्रक्रान्त करने में हम समर्थ बन सकें हैं। कृतज्ञ हैं हम संस्थान के मान्य मन्त्री **'श्रीवासुदेवशरण'** अग्रवाल महाभाग के प्रति, जिन की प्रेरणा से गतवर्ष 'तत्त्वशोधसंस्थान' स्थापित हुआ। एवं सर्वात्मना कृतज्ञ हैं हम उस श्रेष्ठिप्रवरत्रयी के प्रति, जिसने आज से एक वर्ष पूर्व अपनी मुक्तहस्तता का परिचय प्रदान करते हुए इस सद्योजात संस्थान को अद्यावधि जीवित रख लेने का महत्पुण्यार्जन किया है।

जिस राजस्थान-प्रान्त के परम पावन क्रोड़ में यह साहित्यसाधना प्रक्रान्त है, उस **'राजस्थान-सत्ता'** के प्रति भी 'कृतज्ञता' अभिव्यक्त कर देना इसलिए हम अपना नैष्ठिक कर्त्तव्य मान रहे हैं कि, अपने इस परम-नीतिकुशल मान्य प्रान्तीय सत्तातन्त्र (राजस्थान सरकार) के द्वारा विगत तीन वर्षों से हमारी प्रस्तुत साहित्य-सेवा के प्रति जो उद्बोधन सूत्र हमें उपलब्ध होते रहे हैं, (हो रहे हैं, एवं सम्भवतः भविष्य में भी होते ही रहेंगे) उन्हीं उद्बोधनसूत्रों के बल पर हमारी गुहानिहिता स्वाध्यायनिष्ठा उत्तरोत्तर अन्तर्मुखा ही बनती जा रही है। **सौर्य्यमारुतिक,** किंवा **वातातपिक** लोकक्षेत्रों से सम्बन्ध रखनें वालीं जिन बाह्य प्रवृत्तियों के व्यामोहन-पाशात्मक वारुण-बन्धनों से आबद्ध हो पड़ने वाला हमारा मनस्तन्त्र विगत तीन वर्षों से अपनी इतस्ततः दन्द्रम्यमाणा-अनुधावनवृत्ति से गुहानिहिता-स्वाध्यायनिष्ठा से अधिकांश में वञ्चित ही बनता आ रहा था, एकमात्र सत्तातन्त्र के तथाविध सर्वथा तटस्थतात्मक महान् अनुग्रह से ही इस अनुधावन-चङ्क्रमण-व्यामोहन से मनस्तन्त्र का परित्राण हो सका है, जिस के उपलक्ष में अपने इस उद्बोधनप्रदाता राजस्थानसत्ता-तन्त्र के प्रति भी अत्यन्त सम्मानपूर्वक कृतज्ञता समर्पित कर देना आत्मबुद्धिसम्मत पक्ष तो मान हीं लेंगे बुद्धियोगनिष्ठ मानवश्रेष्ठ।

अब प्रश्न शेष रह जाता है तत्त्वशोधसंस्थान के भविष्य का। तत्सम्बन्ध में इसलिए हम सर्वथा अनुद्विग्न हैं कि, ऐसे लोकानुगत संस्थान-नाममात्रों से इस प्राच्य ऋषिसंस्कृति का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। यह तो एक वैसी सामयिक कण्डूमात्र है, जो थोड़ी भी असावधानी से कालान्तर में लोकैषणात्मक महान् व्यामोहन की जननी बन जाया करती है। नापि इस नाममात्र से वेदतत्त्वस्वाध्यायनिष्ठा के हिताहित का ही कोई सम्बन्ध। युगधर्म्मानुपात से इस 'नाम' व्याज से यदि कुछ होता रहता है प्रचारदृष्टि से, तो स्वागत है तटस्थरूप से

इस प्रचार का भी। यदि उपशान्त हो जाती है यह प्रचारैषणा, तो भी श्रेय.पन्था ही है। क्योंकि इस आर्ष-संस्कृति के संरक्षण का उत्तरदायित्व तो स्वयं वेदस्रष्टा उस स्वयम्भू प्रजापति से अनुप्राणित है, जिसके सम्बन्ध में ये उद्घोष प्रसिद्ध हैं कि—

"अजान् ह वै पृश्णीन्-तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू-अभ्यानर्षत्"।
"कविर्म्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः"।-(श्रुतिः)

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा ॥
—(पुराण)

आत्मा-बुद्धिसम्मता मूलनिष्ठाओं के अन्तम्मुर्ख बन जाने से, साथ ही मनःशरीर-निबन्धना भावुकताओं के प्रधान बन जाने से जब जब भी इस पुण्य-भूमि-भारतराष्ट्र में ज्ञानविज्ञानतत्त्वात्मिका आर्षसंस्कृति पददलित हुई परप्रत्ययनेय-गतानुगतिक-भावुक मानवों के द्वारा, तब तब ही इस राष्ट्र की अमुक अज्ञात-प्रज्ञाओं नें स्वाध्यायनिष्ठा-विरोधी यच्चयावत् प्रलोभन-व्यामोहनों से आत्मत्राण करते हुए, साथ ही युगधर्म्मानुगत सभी कष्टपरम्पराओं, अपमानों, एवं तिरस्कारों का स्वागत करते हुए सर्वथा गुहानिहितरूप से अपनी एकान्तनिष्ठ स्वाध्यायसाधना से राष्ट्र के इस मूल-सांस्कृतिक बीज को अपने रक्तदान से आर्द्र-बनाए रक्खा। क्योंकि इसे अपनी चिरन्तन-परम्परा से इस स्वाध्यायनिष्ठा-संरक्षण-के लिए इसी प्रकार के आदेश उपलब्ध होते रहे हैं कि—

सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्ययस्य विरोधिनः।
यथातथाध्यापयँस्तु सा ह्यस्य कृतकृत्यता ॥
—मनुः

अर्थात्-"स्वाध्यायनिरता उस (ब्रह्मवर्चस्) प्रज्ञा को वैसे यच्चयावत् आर्थिक-सामाजिक-प्रालोभनों का परित्याग ही कर देना चाहिए, जो इसकी स्वाध्यायनिष्ठा में विघ्न उत्पन्न कर देते हैं। युगधर्म्मानुगत सम्पूर्ण प्रलोभनों से अपने आप को बचाते हुए बड़ी कठिनता से जीवनयात्रामात्र का निर्वाह करते हुए (संस्कृतिबीजसंरक्षक) स्वाध्यायतप को अक्षुण्ण बनाए रखना हीं इत्थंभूता प्रज्ञा की कृतकृत्यता है, जन्मसाफल्य है"।

युगधर्म्मानुगत मानसिक प्रभाव से कुछ वर्ष पूर्व हम भी इस लोकात्मक-प्रचार-व्यामोहन-पथ के पथिक बन जाने के लिए आतुर हो पड़े थे। फलस्वरूप इस प्रचार-तृष्णा से हमें भी तत्र

तत्र अनुधावन करते रहना पड़ा था, यत्र यत्र केवल अवमान-तिरस्कार के और कुछ भी उपलब्धि की सम्भावना न पहिले थी, न आज है। अपनी इसी भोग-भुक्त्यनुभूति के अनुग्रह से अन्ततोगत्त्वा हमें इसी निष्कर्ष पर पहुँच जाना पड़ा कि,-"सचमुच हम भ्रान्त थे, सर्वथा लक्ष्यविहीन हीं बने हुए थे दूसरे शब्दों में सर्वनाशकारिणी मोहमयी लोकैषणा के लक्ष्य बनने जारहे थे, जिस के उपक्रम में हीं परवञ्चकता-मिथ्याप्रशंसा-कल्पित आडम्बर-प्रातिभासिक प्रदर्शन-आदि आदि आसुरभाव विराजमान रहा करते हैं"। इसी उद्बोधनानुग्रह से आज हम इस लक्ष्य पर अश्मारवणवृत्ति से पूर्ववत् पुनः आरूढ हैं कि,-"**संस्कृति-संरक्षण का एकमात्र मूलसूत्र अनन्यनिष्ठा से एकान्तनिष्ठ बन कर स्वाध्यायनिरत बने रहना हीं है**"।

जिन भारतीय चिरन्तन आर्ष-प्रज्ञाओं को इस मूलसंस्कृति के संरक्षण की चिन्ता है, उन पावन-प्रज्ञाओं का अत्यन्त प्रणतभाव से आह्वान कर रहे हैं हम अपने इस गुहानिहत ज्ञान-सत्त्वात्मक-मानवाश्रम में, जहाँ न किसी प्रकार का प्रदर्शन है, न बाह्य प्रचार है, न किसी प्रकार के लोकानुबन्धी लोकैषणा-वित्तैषणा-समुत्तेजक अन्यान्य सामयिक प्रलोभन। है केवल सर्वथा परोक्षाभावानुगता-**स्वाध्यायतपोनिष्ठा**। न्यूनतम एक शताब्दी पर्य्यन्त राष्ट्र की अमुक प्रज्ञाओं को गुहानिहित बन कर सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के उस ज्ञानविज्ञानात्मक विशुद्ध तात्त्विकरूप को ही पुनः अभिव्यक्त करने में प्राणपण से जुट पड़ना चाहिए, जो मूलसंस्कृति विगत ३-४ हजार वर्षों से विभिन्न मतवादों के आवरण से आवृत होती हुई अपने विशुद्ध मौलिकरूप से सर्वथा ही तिरोहित बनी हुई है।

यह सर्वथा सर्वात्मना सदा संस्मरणीय, एवं अनिवार्य्यरूपेण अविस्मरणीय है कि, केवल-'संस्कृति-साहित्य-ज्ञानविज्ञान-आदर्श'-आदि आदि शब्दों की घोषणाओं से कदापि आज के उस भारतराष्ट्र का वास्तविक उद्बोधन स्वप्न में भी सम्भव नहीं है, जिस भारतराष्ट्र के **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-चारों हीं मानवीय पर्व विगत २-३ सहस्र-वर्षों से नवग्रहग्राहात्मक सम्प्रदायवादों से, विध्वंसक आततायी वर्ग के द्वारा होतीं रहने वालीं आक्रमणपरम्पराओं से, सर्वोपरि विगत शताब्दी में होते रहने वाले चाणाक्षचतुर प्रतीच्य (पश्चिमी) राजनैतिकों के सर्वस्वघातक भूतवादों से सर्वथैव परायत्त प्रमाणित होचुके हैं। 'अपना' कहने के लिए, अपनाने के लिए भारतराष्ट्र के कोश में प्रत्यक्ष में आज कुछ भी शेष नहीं रह गया है।

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रता-प्राप्तिकाल के उपक्रम से प्रक्रान्त 'भारतीयता' के महान् उद्घोषों में अथ से इति पर्य्यन्त सर्वात्मना सबकुछ प्रतीच्य ही प्रतीच्य प्रमाणित हो रहा है। नाममात्र

के लिए 'भारतीयता' का तुमुल उद्घोष, किन्तु आचारदृष्ट्या सभी क्षेत्रों में अभारतीयता का साम्राज्य। वही शिक्षा, वही सभ्यता, वही आदर्श, वही आचार-व्यवहार, और सर्वस्वघातक अन्तर्राष्ट्रीय-व्यामोहन के माध्यम से सर्वथैव स्वस्वरूपविस्मृतिपूर्वक परस्वरूपों का अन्धानुकरण। ऐसी महाभयावहा संघर्षवेला में मूलसंस्कृति-बीज के अङ्कुरित कर लेने की आशा सर्वथा दुराशा ही मानी जायगी तबतक, जबतक ही यहाँ की अमुक प्रज्ञाएँ अपने आपको यच्चयावत् सामयिक प्रलोभनों से अवधान पूर्वक बचाते हुए, दूसरे शब्दों में लोकैषणा-वित्तैषणा-प्रवर्त्तक व्यामोहनों से जागरूकता पूर्वक अपने आपको असंस्पृष्ट बनाए रखते हुए सर्वप्रथम अपनी मूलसंस्कृति के शुद्ध स्वरूप को अभिव्यक्त नहीं कर लेतीं। इस स्वरूपबोध के अनन्तर ही (जिसमें अनुमानतः एक शताब्दी का समय अपेक्षित है) भारतराष्ट्र स्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित हो सकेगा। और उस अवस्था में किसी भी वैसे प्रचार-विजृम्भण की कोई भी आवश्यकता शेष नहीं रह जायगी, जिसके लिए आज कतिपय संस्कृतिभक्त आकुल-व्याकुल बने हुए हैं।

प्रचारकण्डू का आत्यन्तिक निरोध कदापि अभिप्रेत नहीं है। अमुक सुप्रसिद्ध न्याय * के अनुसार गच्छतः स्खलनरूप से कुछ करते रहने से भी शनैः शनैः कुछ तो सम्भव है ही। इसी आधार पर सम्भवतः--**'अकरणान्मन्दकरणं श्रेयः'** आभाणक प्रसिद्ध भी है। अभिप्रेत केवल यही है कि, प्रचार के मूल में सर्वथा तत्त्वस्वाध्यायनिष्ठा ही प्रतिष्ठित रहनी चाहिए। प्राथमिकता स्वाध्याय की, एवं अपनी इस स्वाध्यायनिष्ठा का संरक्षण करते हुए, किसी भी प्रवाह में प्रवाहित न होते हुए सत्यधर्म्मपथ से अनुरूप क्षेत्रों में (आस्थाश्रद्धासमन्वित क्षेत्रों में) ऋजुभाव से प्रचार-पथ का अनुगमन। इसी निर्णीत पथ को लक्ष्य बनाते हुए अब वैसे लोकसंग्रहात्मक प्रचारव्यामोहन को सर्वथैव जलाञ्जलि समर्पित कर दी गई है, जहाँ आदि-मध्य-अवसान-तीनों भूमियों में केवल स्व-पर-प्रतारणा के अतिरिक्त और कुछ भी तो सम्भावित नहीं है। ऋजुभावात्मिका इसी आस्थामयी श्रद्धाबिन्दु के माध्यम से संस्थान के मन्त्री महोदय की बलवती प्रेरणा से हमें आस्था-श्रद्धासमन्वित **'राष्ट्रपति महाभाग** के सम्मुख इस संस्कृति के कतिपय सूत्र रख देने का गौरव प्राप्त हुआ, जिसे हम संस्कृति के भविष्य के लिए 'प्रशस्त' पथ मान सकते हैं। अतएव—

सर्वान्त में सर्वथा प्रणतभाव से भारतराष्ट्र के सर्वोच्च पद पर समासीन महामहिम राष्ट्रपति **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** के प्रति भी कृतज्ञताञ्जलि समर्पित कर देना हम अपना आवश्यक

---

* न हि कल्याणकृत् कश्चिद्-दुर्गतिं तात ! गच्छति।
स्वल्पमप्यस्य धर्म्मस्य त्रायते महतो भयात्॥

कर्त्तव्य मान रहे हैं, जिन्होंनें अपनी सहजसिद्धा भारतीय प्राच्यसंस्कृति-साहित्यनिष्ठा के आकर्षण से ❀ विगत दिसम्बर मास में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त सम्प्रदायवाद-निरपेक्ष वेदपुराणशास्त्रानुबन्धिनी ज्ञानविज्ञान-परिभाषाओं के विश्लेषण-समय के दान से हमें कृतज्ञ बनाया है। साथ ही हमें ऐसा आश्वासन उपलब्ध हुआ है मान्य-राष्ट्रपति महाभाग से कि, वे शीघ्र ही केन्द्रसत्ता का, तथा प्रान्तीय सत्ताओं का ध्यान भी आकर्षित करने का अनुग्रह करेंगे इस ओर।

विगत ३-४ वर्षों से राजस्थानसत्ता के प्रति इस दिशा में हम सर्वात्मना प्रयत्नशील थे। किन्तु सम्भवतः हम किसी अपने हीं अज्ञात दोष से निरन्तर प्रयास करते हुए भी राजस्थानसत्ता के सर्वसमर्थ प्रज्ञाशील भी सत्ताधीशों का अनुग्रह प्राप्त न कर सके। अपने हीं प्रान्त की इस आत्मीय-सत्ता से इसप्रकार उपेक्षित होने से निरतिशयरूप से उत्पीड़ित होते हुए इस दिशा में तटस्थ बन जाना हीं हमने श्रेयःपन्था मान लिया था। सहसा जनवरीमास के आरम्भ में हीं राजस्थान के संस्कृतिनिष्ठ महामान्य **श्रीराज्यपाल महाभाग** का हमें विशेष अनुग्रह प्राप्त हुआ। एवं आपने बड़े ही धैर्य्य से हमारी साहित्यसेवा का पर्य्यवेक्षण किया। साथ ही राजस्थानसत्ता के अपने हीं घर के इसप्रकार के साहित्यिक कार्य्य के प्रति उदासीन बने रहने के प्रति खेद भी प्रकट किया। और हमें यह आश्वासन प्रदान करने का निःसीम अनुग्रह किया कि, 'राज्यपाल शीघ्र ही इस दिशा में राजस्थानसत्ता के सहयोग के लिए कृतसंकल्प हैं। तदर्थ कृतज्ञता समर्पित कर रहे हैं हम हृदय से अपने महामान्य श्रीराज्यपाल महाभाग के प्रति भी।

आज से अनुमानतः तीन वर्ष पूर्व मोहमयी (बम्बई) के सुविख्यात् धनकुबेर श्रेष्ठिप्रवर **श्रीगोविन्दरामजी** महाभाग सेकसरिया के एकमात्र सुपुत्र श्रेष्ठिप्रवर मानवश्रेष्ठ आर्षसंस्कृतिपरायण **श्रीकुडीलालजी महाभाग** सेकसरिया ने लगभग पचीससहस्र के व्यय से **आत्मविद्या, सापिण्ड्य-विद्या** से सम्बन्ध रखने वाले दो ग्रन्थ प्रकाशित करवाने का अनुग्रह कर स्वयं अपनीं हीं ओर से इन्हें विश्व के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों के समीप भेजा था। **जापान-इटली-जर्म्मन-अमेरिका** आदि के संस्कृतिनिष्ठ विद्वानों की जैसी सम्मतियाँ हमें उस समय प्राप्त हुईं थीं, उनके आधार पर सहसा एक बार तो हमारी ऐसी धारणा हो गई थी कि, व्यर्थ ही जन्म लिया हमनें इस भारत देश में, जहाँ सरस्वती का मूल्याङ्कन आज केवल जड़ धातुखण्डों से ही किया जा रहा है। आज से अनुमा-

❀-महामहिम राष्ट्रपति महाभाग की प्रेरणा से गत दिसम्बर सन् ५६ की १४-१५-१६-१७-१८-तारीखों में निरन्तर पाँच दिवस पर्य्यन्त राष्ट्रपति महाभाग की समुपस्थिति में जो व्याख्यान हुए थे, वे स्वतन्त्ररूप से प्रकाशित हो गए हैं।

नतः दो वर्ष पूर्व हमारी साहित्य-सेवा से पूर्ण परिचय प्राप्त करने वाले राजस्थान के ही एक सम्मान्य मन्त्री महाभागनें अनुग्रह करते हुए हमें यह आश्वासन दिया था कि **"यदि राजस्थान सत्ता एक हजार वार्षिक भी दे दे, तो हमें कृतकृत्य बन जाना चाहिए। क्योंकि आरम्भ थोड़ा ही अच्छा है"** । यह है हमारे उस देश भारत राष्ट्र की संस्कृतिनिष्ठा, जिसने वेदशास्त्र जैसी महामहनीया लोकोत्तरा संस्कृति को जन्म दिया है। उधर जापान के विश्वविद्यालय के एक सम्मान्य प्रोफेसर ने अपने सम्मतिपत्र में इस साहित्यिक कार्य्य के प्रति अपनी यह धारणा अभिव्यक्त की है कि—**"हमारा जापान राष्ट्र युद्धक्षति की पूर्त्ति न कर सकने के कारण अभी तक इस प्रकार की साहित्य-साधनाओं में सफलता प्राप्त नहीं कर सका है। सचमुच आपका देश (भारतराष्ट्र) धन्य है, जिसने आपको ऐसी सुविधा प्रदान की ?, जिसके बल पर आपने अपनी इसप्रकार की साहित्य-साधना को सफल बनाया। अब हमने भी आपके इस साहित्यप्रचार की दृष्टि से अपनी युनिवर्सिटी में हिन्दी के क्लास खोल दिए हैं"** ।

स्पष्टतम है कि, विगत तीन हजार वर्षों से प्रक्रान्त बनी रहने वाली विविध मतवाद-सम्प्रदायवाद-निबन्धना आत्मबुद्धि-अनुगता आभ्यन्तरादासता ने, तथा विगत एक सहस्र वर्ष से प्रक्रान्त बनी रहने वाली मनःशरीरनिबन्धना बाह्य दासता ने भारतराष्ट्र की बुद्धियोगनिष्ठा को एकान्ततः अभिभूत ही कर लिया है। हमारी सांस्कृतिक-साहित्यिक चेतना सर्वात्मना प्रसुप्तवत् ही प्रमाणित हो गई है। यदा कदा जब कोई विदेशी विद्वान् यहाँ की संस्कृति, किंवा साहित्य-दिशा के सम्बन्ध में अपनी धारणा व्यक्त करता है, तो एक क्षणमात्र के लिये हमारे देश के महापुरुष एक प्रचण्ड कोहरे से मानो अपना मुख ऊपर करते हैं, और पुनः क्षणानन्तर ही उसी नीहारिका के गर्भ में प्रविष्ट हो जाते हैं, मानो इन्होंनें कुछ सुना ही न हो। भारतराष्ट्र की आत्म-बुद्धि-मनः-शरीर-दासतामूला इस सर्वदासता को लक्ष्य बना कर ही कलकत्ता की गान्धीजयन्ती के अवसर पर सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता स्व० **श्री जे. एम. सेन गुप्ता** महाभाग ने अपने ये उद्गार प्रकट किये थे कि—

"जखुन एई पश्चिमेरा आमादेर चोखे आँगुल दिए देखे दाय, तखुन आमरा बुझि-एई बड़ो लोक" ।

अर्थात **"जब ये पश्चिम के विद्वान् हम भारतीयों की आँखों में अङ्गुली डाल डाल कर हमें यह बतलाते हैं कि, तुम्हारे देश में अमुक विद्याएँ हैं, अमुक श्रेष्ठ कार्य्य हैं,**

तब कहीं हमारी समझ में कुछ आता है कि, सचमुच यह राष्ट्र का महान् कार्य्य है"-(सो भी क्षणमात्र के लिए ही-भूतावेशवत्)।

भारतवसुन्धरा के महत्सौभाग्य से भारतराष्ट्र आज मनःशरीरानुबन्धिनी दासता के वारुण-पाशबन्धन से अहिःकञ्चुकिवत् विनिर्मुक्त हो चुका है, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। किन्तु इस तथ्य के साथ भी कदापि गजनिमीलिका नहीं की जा सकती कि, भारतीय मौलिक प्राच्य ज्ञान-विज्ञानसंस्कृति के अभाव से हमारी आत्मबुद्धिनिबन्धना आभ्यन्तर दासता अभीतक ज्यों की त्यों सुरक्षित ही बनी हुई है । 'स्वतन्त्रता' के वास्तविक अर्थ के समन्वय के लिए हमें शीघ्र से शीघ्र इस आत्मबुद्धिदासता से राष्ट्र का परित्राण कर लेना है। यह कार्य्य कदापि स्वप्न में भी केवल पश्चिम के अन्धानुकरण से तबतक सम्भव नहीं है, जबतक कि हम अपनी मूलसंस्कृति-मौलिक प्राच्य-साहित्य को आधारशिला के रूप में ज्ञानविज्ञानदृष्टि से अपने राष्ट्रीय निर्म्माण कार्य्यों में, विविध योजनाओं में प्रतिष्ठित नहीं कर लेते।

जिस राष्ट्र के ज्ञानीय कोश में **'बुद्धियोग'** निष्ठा प्रतिपादक **'गीता'** जैसा लोकोत्तर शास्त्र सुरक्षित हो, वह भी यदि आत्मबुद्धिदासता में निमग्न रहता हुआ अपनी प्रत्येक प्रगतियों में पश्चिम का ही अन्धानुकरण करता रहे, तो सचमुच इस के लिए इससे अधिक लज्जा का और कोई क्षेत्र नहीं माना जासकता। अभिनव स्वतन्त्रता के इस उषाकाल में भारतराष्ट्र इस स्थिति को देखे, समझे, एवं अविलम्ब अपने मौलिक साहित्य की ज्ञानविज्ञान-परिभाषाओं के अन्वेषण में प्रवृत्त हो, तन्माध्यम से आत्मबुद्धिदासता का परित्याग कर वास्तविक स्वातन्त्र्य-सुख का सफल उपभोक्ता प्रमाणित हो, एकमात्र इसी मङ्गलमयी राष्ट्रीय कामना से बुद्धियोगनिष्ठात्मक यह श्रद्धा-प्रसून राष्ट्र के महामहिम संस्कृतिनिष्ठ राष्ट्रपति **श्रीराजेन्द्रप्रसादजी महाभाग** के करमलों में अत्यन्त सम्मान के साथ समर्पित करते हुए यः कश्चिदपि यह मुकरक्तशर्म्मा आङ्गिरस भारद्वाज मनस्तुष्टि का ही अनुभव कर रहा है।

ओमित्येतत्

मर्गशीर्षशुक्ल-वसन्तपञ्चमी
वि० सं० २०१३

मानवाश्रमविद्यापीठ, दुर्गापुरा
(जयपुर राजस्थान),

श्रीः

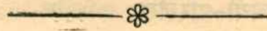
गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत-'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक
सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक 'ग' विभागानुगत
पूर्वखण्ड की
परिलेखसूची, एवं संक्षिप्त-विषयसूची

श्रीः

बुद्धियोगपरीक्षा–पूर्वखण्डानुगता–परिलेखसूची

सैषा बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्डानुगता

परिलेखसूची-उपरता



श्री :

'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड की संक्षिप्त

विषय-सूची

* —'बुद्धियोगपरीक्षा' नामक पूर्वखण्ड का प्रकरणविभाग—

——*——

——१——

——२——

(३)–बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार——६४५ से ६६२ पर्य्यन्त

सैषा प्रकरणत्रयात्मिका नवस्तम्भानुगता बुद्धियोगपरीक्षा

——३——

स्तम्भचतुष्टयात्मक-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम-प्रकरण

प्रथमप्रकरणान्तर्गत-'सन्दर्भसङ्गति' नामक प्रथम स्तम्भ के १४ अवान्तर परिच्छेद

(१ पृष्ठ से १८ पृष्ठ पर्य्यन्त)

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत 'सन्दर्भसंगति' नामक चतुर्दश (१४) अवान्तरपरिच्छेदात्मक

प्रथमस्तम्भ–उपरत

(१)–१

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'योगेश्वर का तात्त्विकस्वरूपनिरूपण' नामक

द्वितीय स्तम्भ के १५१ अवान्तर परिच्छेद

(१६ से २०४ पर्य्यन्त)

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपनिरूपणा'त्मक

१५१ अवान्तर परिच्छेदात्मक

द्वितीयस्तम्भ—उपरत

(१)—२

प्रथमप्रकरणान्तर्गत—"योगेश्वरानुगत 'योग'स्वरूपनिरूपण" नामक तृतीय स्तम्भ के ५६ अवान्तर परिच्छेद

(२०५ से २६८ पर्यन्त)

*–ज्ञानयोगात्मिका ज्ञानयोग–चतुष्टयी तृतीया (३)

—(३)—

*–बुद्धियोगात्मिका बुद्धियोग–चतुष्टयी चतुर्थी (४)

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–"योगेश्वरानुगत–'योग'–स्वरूपनिरूपणात्मक"

५६ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

तृतीय स्तम्भ–उपरत

(१)—३

——*——

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–"बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन" नामक चतुर्थस्तम्भ के ७५ अवान्तर परिच्छेद

(२६६ से ३७६ पर्य्यन्त)

प्रथमप्रकरणान्तर्गत–'बुद्धितत्त्वस्वरूपदिग्दर्शन 'नामक'

७५ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

चतुर्थस्तम्भ-उपरत

(१)–४

——*——

चतुःस्तम्भसमष्ट्यात्मक–'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथमप्रकरण समाप्त

–१–

——※——

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय–प्रकरण

२

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'धर्म्मबुद्धियोगानुगत–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम स्तम्भ के १२१ अवान्तर परिच्छेद

(३७७ से ५०६ पृष्ठ पर्य्यन्त)

अथ–विद्यास्वरूपपरिचयः—

इति–विद्यास्वरूपपरिचयः—

स्तम्भचतुष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगतविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक द्वितीय–प्रकरण

२

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'धर्म्मबुद्धियोगानुगत–आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथम स्तम्भ के १२१ अवान्तर परिच्छेद

(३७७ से ४०६ पृष्ठ पर्य्यन्त)

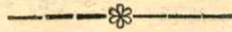
अथ–विद्यास्वरूपपरिचयः—

इति-विद्यास्वरूपपरिचयः—

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-"धर्म्मबुद्धियोगानुगत-आर्षविद्यास्वरूपनिर्वचना"नामक १२१ अवान्तरपरिच्छेदात्मक

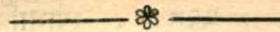
प्रथमस्तम्भ-उपरत

(२)—१



द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-"ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत-राजविद्यास्वरूपनिर्वचन"नामक द्वितीय स्तम्भ के ४१ अवान्तर परिच्छेद

(५०७ से ५४२ पृष्ठ पर्य्यन्त)



द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ऐश्वर्य्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक
४१ अवान्तर परिच्छेदात्मक
द्वितीय स्तम्भ––उपरत

(२)—२

---*---

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'ज्ञानबुद्धियोगानुगत–सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
तृतीय स्तम्भ के ३४ अवान्तर परिच्छेद
(५४३ से ५८८ पृष्ठपर्य्यन्त)

---*---

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत-'ज्ञानबुद्धियोगानुगत-सिद्धविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक

३४ अवान्तर परिच्छेदात्मक

तृतीय स्तम्भ-उपरत

(२)-३

---*---

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजर्षिविद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक चतुर्थ स्तम्भ के ४८ अवान्तर परिच्छेद

(५८६ से ६४४ पृष्ठपर्य्यन्त)

द्वितीयप्रकरणान्तर्गत–'वैराग्यबुद्धियोगानुगत–राजविद्यास्वरूपनिर्वचना' त्मक
४८ अवान्तर परिच्छेदात्मक
चतुर्थ स्तम्भ—उपरत

(२)—४

———*———

चतुःस्तम्भसमष्टयात्मक–'बुद्धियोगानुगत–विद्यास्वरूपनिर्वचन' नामक
द्वितीय प्रकरण–समाप्त

—२—

———*———

(३) बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार–(तृतीय प्रकरण)

तत्रैते–अवान्तरपरिच्छेदा निरूपिता द्रष्टव्याः

(६४५ पृष्ठ से ६६२ पृष्ठ पर्य्यन्त)

———*———

उपरतञ्चेदं–'बुद्धियोगपरीक्षोपसंहार'–नामकं
तृतीयं प्रकरणं–१० अवान्तरपरिच्छेदात्मकम्

——३——

उपरता चेयं'–बुद्धियोगपरीक्षा–नामक–पूर्वखण्डस्य
संक्षिप्ता विषयसूची

——*——

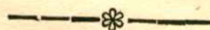
श्रीः

बुद्धियोगपरीक्षा-पूर्वखण्ड की

संक्षिप्त परिलेख सूची

एवं

विषयसूची—समाप्त



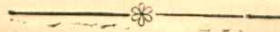
श्रीः

गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गत–प्रकरणत्रयात्मक 'बुद्धियोगपरीक्षा'
नामक पूर्वखण्ड का

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक

प्रथम–प्रकरण

१



श्रीः

अथ-बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमे प्रकरणे

'सन्दर्भसङ्गति-' नामकः

प्रथमः स्तम्भः

(१)-१



श्रीः

बुद्धियोगपरीक्षायां-'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनम्' नाम-प्रथमं प्रकरणम्

प्रथमप्रकरणेऽस्मिन्–'सन्दर्भसङ्गति-' नामकः

प्रथमः स्तम्भः

१—माङ्गलिकसंस्मरणम्—

१—नि षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥
—ऋक्संहिता १०।११२।९।

२—एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति 'एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ॥
—ऋक्संहिता ६।४।२६।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण २।८।८।५।

४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
—तै० ब्रा० २।८।८।

५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देव-'मात्मबुद्धिप्रकाशं' मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वेताश्वतरोपनिषत् ६।१८।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारु मामिह वादयेत् ॥
—ऐतरेय आरण्यक

७—आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव तु ।
'बुद्धिं' तु सारथिं विद्धि, मनः-प्रग्रहवान्नरः ॥

इन्द्रियाणि हयानाहु, र्विषयाँस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्म्मनीषिणः ॥
—कठोपनिषत् १।३।३,४,।

८—यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः-प्रग्रहवान्नरः ।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥
—कठोपनिषत् १।३।८,९, ।

९—एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।
दृश्यते त्वग्रयया 'बुद्धया' सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
—कठोपनिषत् १।३।१२।

१०—स एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात्-वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति ।
वि चैति चान्ते विश्वमादौ स देवः, स नो 'बुद्धया' शुभया संयुनक्तु ॥
—श्वेता० उप० ४।१।

११—व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !
वहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥
—गीता २।४१।

१२—दूरेण ह्यवरं कर्म्म 'बुद्धियोगात्' धनञ्जय ! ।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥
—गीता २।४९।

१३—बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते ।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्म्मसु कौशलम् ॥
—गीता २।५०।

१४—तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि 'बुद्धियोगं' तं येन मामुपयान्ति ते ॥
—गीता १।१०।

१५—चेतसा सर्वकर्म्माणि मयि संन्यस्य मत्परः ।
'बुद्धियोग' मुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥
—गीता १८।५७।

२–शास्त्रनिष्ठा का शैथिल्य, एवं लोकनिष्ठा का प्राबल्य—

आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक, इन तीन प्रकार के तापों से सन्तप्त पुरुष अपने जन्मक्षण से आरम्भ कर मृत्युक्षण पर्य्यन्त शान्ति–सुख के लिए व्यग्र बना रहता है। इसकी यह व्यग्रता उस समय और भी अधिक प्रवृद्ध हो जाती है, जब कि शान्ति–सुख के लिए पर्य्याप्त प्रयास करने पर भी इसे शान्ति–सुख–नहीं मिलते। यावज्जीवन श्रौत-स्मार्त्त कर्म्मों में रत रहने वाले कर्म्मठ पुरुष भी वर्त्तमान युग में आध्यात्मिक शान्ति की कौन कहे, लौकिक सुख से भी वञ्चित होकर इतस्ततः दन्द्रम्यमाण हैं। अहरोत्र नाम-ध्वनि का अनुगमन करने वाले भक्त भी लौकिक तापों से युक्त देखे सुने जाते हैं। अव्यक्त ज्ञानमार्ग का उद्घोष करने वाले वेदान्तमहानिधि भी अन्नचिन्ता से संत्रस्त हैं। भारतीय विद्वान् साभिनिवेश कहा करते हैं कि, शास्त्रीय मार्ग के परित्याग से ही मनुष्य दुःख पाया करता है। ओमित्येतत्। परन्तु, देखा–सुना यह जा रहा है कि, जो शास्त्रीय कर्म्म–भक्ति–ज्ञान-पथों के अनुगामी हैं, वे उन लौकिक मनुष्यों की अपेक्षा भी कहीं अधिक संत्रस्त हैं, जो लौकिक मनुष्य अपनी व्यावहारिकी बुद्धि के बल पर केवल व्यावहारिक मार्ग के अनुगामी बने हुए हैं। यह ठीक है कि, लौकिक मनुष्य भी आत्मशान्ति से तो वञ्चित हैं। और इस दृष्टिकोण से शास्त्र-निष्ठ, एवं लौकिक मनुष्य, दोनों वर्ग समतुलित हैं। परन्तु मानना पड़ेगा कि, योग–क्षेमानुगता लौकिक चिन्ता लोकनिष्ठ व्यवहारदक्ष पुरुष की अपेक्षा शास्त्रनिष्ठ–व्यवहारशून्य–पुरुष को ही अधिक उत्पीड़ित कर रही है। इसप्रकार प्रत्यक्षानुभव यह मानने मनवाने के लिए विवश कर रहा है कि, वर्त्तमान युग की शास्त्र-निष्ठा, एवं लोकव्यवहारनिष्ठा आत्मशान्तिप्राप्ति के स्थान में तद्विघातिका ही बन रही है। दोनों निष्ठाओं में से यदि योग–क्षेमचिन्ता को प्रधान मान लिया जाता है, तो–लोकनिष्ठा ही वर्त्तमानयुग में उपादेय, अतएव संग्राह्य मानी जासकती है। यही आज हो भी रहा है। लोकनीतिकुशल वर्त्तमानयुग के वर्त्तमानलोकशिक्षा-पटु महानुभावों का दृष्टिकोण इस सम्बन्ध में ऐसा ही कुछ बना हुआ है। उनका कहना है, और यह कथन तथ्यपूर्ण भी है कि, शास्त्रनिष्ठा से आत्मशान्ति तो नहीं हीं मिलती, शरीरसुख भी, योग–क्षेम भी पलायित हो जाते हैं। अतः हमें जीवन के मूलाधारभूत योग–क्षेम की रक्षा के लिए वर्त्तमान में लोकनिष्ठा का ही समादर करना चाहिए, एवं शास्त्रनिष्ठा की उपेक्षा कर देनी चाहिए। फलस्वरूप आज शास्त्रनिष्ठ समाज की संख्या क्रम–क्रमशः घटती जा रही है, और बढ़ती जा रही है लोकनिष्ठ–चतुर पुरुषों की संख्या।

३–मानव का भ्रान्तिमूलक परिताप—

क्या आज ही शान्ति-सुख को लेकर भारतवर्ष में यह सर्वथा नवीन प्रश्न खड़ा हुआ है?। नेति होवाच। आज से पहिले भी यह प्रश्न समय समय पर उपस्थित होता आ रहा है। क्या अतीत युगों में भी उपस्थित इस प्रश्न के संघर्ष में लोकनिष्ठा की ही मान्यता स्वीकार हुई है?, नेति होवाच। वर्त्तमान स्थिति से सर्वात्मना मिलते जुलते संकटकाल पुरायुगों में जब जब भी उपस्थित हुए, तब तब ही तत्त्ववेत्ताओं नें इस सम्बन्ध में अपना यही निर्णय प्रकट किया कि, शास्त्रानुगता धर्म्मनिष्ठा उसी दशा में हानि का कारण बनती है, जबकि, इसके अनुष्ठान-प्रकारों में किसी भी प्रकार के दोष का सम्बन्ध हो जाता है। साथ ही लोकानुगता अधर्म्मनिष्ठा तमोगुणप्रधान विश्व में थोड़े समय के लिए सुखसमृद्धि का कारण बनती हुई भी अन्ततोगत्वा समूल विनाश

का ही कारण बनती है +। शास्त्रीय धर्म्मनिष्ठा से यदि सुख-शान्ति प्राप्त नहीं होती, तो विश्वास करना चाहिए, अवश्य ही इसके अनुष्ठान में हमसे कोई भूल हुई है। उस भूल का अन्वेषण कर उसकी चिकित्सा करना हीं मानवधर्म्म है। इस भूल का यह अर्थ निकाल बैठना कि, शास्त्रीय पथ ही एक भूल है, महाभूल है। और इस महाभूल से समुत्पन्न परिताप का मानव को यावज्जीवन अनुगमन करना पड़ता है। क्योंकि निष्ठाभाव के स्वरूपविश्लेषक लोकसूत्र का यही निष्कर्षार्थ है, जो सूत्र इस रूप से प्रसिद्ध है कि—**"भूल देखना मानव की भूल नहीं है, क्योंकि भूल देखना मानवीय मन का सहज स्वभाव है। किन्तु भूल देखने में मानव को कदापि भूल नहीं करनी चाहिए। जो मानव दुराग्रहमूलक क्षणिक आवेश में आकर भूल देखने में भूल कर बैठते हैं, उन्हें यावज्जीवन परिताप का ही अनुगामी बना रहना पड़ता है"***। लोकनिष्ठा का तत्त्ववेत्ताओं नें विरोध नहीं किया, अपितु लोकनिष्ठाओं में मानवीय-कल्पना के आधार पर जिन प्रकृतिविरुद्ध-अशास्त्रीय भावों का समावेश हो जाता है, उनका निष्कासन करते हुए उन्होंनें इसे शास्त्रनिष्ठा की अभेद्या शिला पर प्रतिष्ठित किया है।

४—मानव का देवयुगकालीन उद्बोधन—

श्रुति हमें सुनाती है कि, एक बार भारतीय मनुष्यप्रजा ने यह कहते हुए शास्त्रनिष्ठा का परित्याग कर दिया कि,—"जो शास्त्रीय यज्ञादि कर्म्म करते हैं, वे तो दुखः पा रहे हैं, एवं जो इन कर्म्मों की उपेक्षा कर यथेच्छाचारविहारपरायण हैं, वे लौकिक मनुष्य शास्त्रनिष्ठों की तुलना में सुसमृद्ध बने हुए हैं। ऐसी स्थिति में हम भी क्यों शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करें। क्यों नहीं, हम भी लौकिक मनुष्यों की भाँति यथेच्छाचार-विहारपरायण बनते हुए सुखी बननें का प्रयास करें ×"। घटना उस युग की है, जो युग भारतवर्ष के लिए स्वर्णयुग माना गया है, वैदिक संस्कृतिप्रधान वह देवयुग, जिसमें प्रकृतिवत् इस पृथिवी पर ही त्रैलोक्य-व्यवस्था व्यवस्थित थी। भारतीय प्रजा की इस मनोवृत्ति के समाचार देवेन्द्र के समीप पहुँचे। देवेन्द्र ने अनुभव किया कि, शास्त्रीय निष्ठा की इस अश्रद्धा का कारण अवश्य ही कर्म्मदोष हुआ है। तत्काल देवगुरु

+—अधर्म्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति॥
—मनुः ४।१७४।

* खण्डचतुष्टयात्मक 'भारतीय हिन्दू मानव, और उसकी भावुकता' नामक ग्रन्थ के चतुर्थ खण्ड में इन लोक सूत्रों का स्वरूप सोदाहरण स्पष्ट हुआ है!

×—"स ये हाग्रे—ईजिरे, ते ह स्मावमर्शं यजन्ते। ते पापीयांस आसुः। अथ ये नेजिरे, ते श्रेयांस-आसुः। ततोऽश्रद्धा मनुष्यान्—विवेद—'ये यजन्ते—पापीयांसस्ते भवन्ति। य उ न यजन्ते, श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति। ते ह देवा ऊचुः—बृहस्पतिमाङ्गिरसम्। अश्रद्धा वै मनुष्यानविदत्, तेभ्यो विधेहि यज्ञमिति।"
—शत० ब्रा० १।२।५।२४।

बृहस्पति भारतवर्ष भेजे जाते हैं। वे यहाँ आकर अपने सम्मुख इनसे यज्ञ कराते हैं, और देखते हैं कि– अमुक अमुक स्थानों में इनके द्वारा त्रुटि हुई है, एवं यही त्रुटि कर्म्मस्वरूपविघातिका बनती हुई अश्रद्धा, तथा अनिष्ट का कारण बनी है। त्रुटि का विश्लेषण किया जाता है। आस्तिक प्रजा अपना दोष स्वीकार करती है। पुनः उसकी शास्त्रनिष्ठा पर श्रद्धा हो जाती है ÷।

५–कर्म्मकौशलानुगत–शास्त्रीय प्रकरण का वैशिष्ट्य—

उक्त भारतीयेतिवृत्तपरम्परा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, दोनों निष्ठाओं में शास्त्रनिष्ठा ही त्रिकालाबाधित शान्ति–सुखप्राप्ति का अनन्य–अन्यतम मार्ग है। शास्त्रनिष्ठा तभी हानिप्रदा बनती है, जबकि उसके अनुष्ठानप्रकार में हम अपनी ओर से कोई असावधानी कर बैठते हैं। शास्त्रनिष्ठा ही क्यों, लोकनिष्ठा भी तो इसी प्रकार सौष्ठव का समर्थन कर रही है। यथाव्यवस्थितिपूर्वक चातुर्य्य के साथ किया जाने वाला वही लौकिक कर्म्म जहाँ फलप्रद बनता है, वहाँ अनुष्ठानप्रकार की असावधानी कर्म्मस्वरूप को विकृत कर देती है, एवं ऐसे विकृत कर्म्म से कदापि अभीष्ट फलसिद्धि प्राप्त नहीं होती। कर्म्म का कुशलतापूर्वक किया जाने वाला अनुष्ठानप्रकार ही **'कर्म्मकौशल'** (कर्म्मचातुर्य्य) है। चाहे शास्त्रीय कर्म्म हो, अथवा तो लौकिक कर्म्म, कौशल ही इस कर्म्म का सौष्ठव है। यही कौशल कर्म्मविभूति का हमारे अध्यात्मजगत् के साथ योग कराने में समर्थ होता है। अतएव तत्त्वाचार्य्यों ने इस कौशल को * **'योग'** शब्द से व्यवहृत किया है। कुशल पाचक का कौशल पाककर्म्म की सफलता का रहस्य है। कुशल विद्वान् का कौशल स्वाध्यायाध्यापन–कर्म्म की सफलता का बीज है। कुशल याज्ञिक का कौशल यज्ञकर्म्म की प्रतिष्ठा है। ×। कुशल भक्त का कौशल ही भक्तिमार्ग का आलम्बन है। कुशल ज्ञानी का कौशल ही ज्ञानपथ की आधारभूमि है। यच्चयावत् मार्ग कुशलता–सम्बन्ध से योगात्मक बनते हुए उपादेय हैं, एवं यच्चयावत् मार्ग कुशलता से वञ्चित रहते हुए अनुपादेय हैं, हेय हैं, अतएव अनिष्टकर हैं।

÷–"स हेत्योवाच बृहस्पतिराङ्गिरसः–'कथा न यजध्व' इति। ते होचुः–'किङ्काम्या यजेमहि। ये यजन्ते-पापीयांसस्ते भवन्ति। य उ न यजन्ते-श्रेयांसस्ते भवन्ति' इति। ××। स होवाच–अनवमर्शं यजध्वम्। तथा श्रेयांसो भविष्यथ-इति। स यो हैवं विद्वान्-अनवमर्शं यजते, श्रेयान् हैव भवति। तस्मादनवमर्शमेव यजेत"।
—शत० ब्रा० १।२।५।२५,२६,

*–बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व–"योगः कर्म्मसु कौशलम्" ॥ (गी० २।५०।)।

×–"तदु होवाच याज्ञवल्क्यः–ऋत्विजो हैव देवयजनम्। ये ब्राह्मणाः–शुश्रूवांसोऽनूचाना विद्वांसो याजयन्ति, सैव–अह्वला। एतन्ने–दिष्ठतमामिव मन्यामहे–इति" (शत० ३।१।१।४,५,)।

६–धर्म्म, और अधर्म्म की स्वरूपव्यवस्थिति—

तात्पर्य्य यह निकला कि, धर्म्म, अधर्म्म का कोई नियत स्वरूप नहीं है। वही तत्त्व, वही कर्म्म, अनुष्ठानप्रकाररूप कौशल से वञ्चित रहता हुआ अधर्म्म बन जाता है। वही तत्त्व कौशल के सम्बन्ध से धर्म्म बन जाता है। 'देश–काल–पात्र–द्रव्य–श्रद्धा' के समन्वय से ही धर्म्म का स्वरूपनिर्म्माण माना गया है ÷। वही भोजनकर्म्म एक स्वस्थ मनुष्य के लिए धर्म्म है, सन्निपातरोगग्रस्त व्यक्ति के लिए वही अधर्म्म है। वह शास्त्रनिष्ठा, धर्म्मपथ भी उस समय अशास्त्रीय निष्ठा, अधर्म्मपथ बन जाते हैं, जबकि वह निष्ठा, वह पथ कौशलरूप योग से वञ्चित हो जाते हैं। साथ ही वह लोकनिष्ठा, अधर्म्मपथ भी उस समय शास्त्रीयनिष्ठा, धर्म्मपथ बन जाते हैं, जबकि वह निष्ठा, वह पथ योग से युक्त हो जाते हैं ·|·। यहाँ आकर उस पूर्व प्रश्न का भलीभाँति समाधान हो जाता है कि, "शास्त्रनिष्ठा भी वर्त्तमान में क्यों अभ्युदय–निःश्रेयस के स्थान में आस्तिक प्रजा की अवनति का कारण बन रही है ?, एवं लोकनिष्ठा भी (लौकिक कुशलता के सम्बन्ध से) क्यों योगक्षेमनिर्वाहिका मानी जा रही है ?।"

७–कर्म्मकौशलप्रतिपादक गीताशास्त्र—

जिस कर्म्मकौशलात्मक योग के सम्बन्ध से यच्चयावत् निष्ठाएँ इष्टजननी–अनिष्टनिवारिका बन जातीं हैं, उस योग का, उस कर्म्मकौशल का स्वरूप क्या ?, एकमात्र इसी प्रश्न के समाधान के लिए 'समाधि' रूप से (बुद्धियोगरूप से) गीताशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। मुग्ध आस्तिक प्रजा यह समझ रहीं होगी कि, गीता भी श्रौत–स्मार्त्त–सूत्र–ग्रन्थों, तथा मनु–याज्ञवल्क्यादि धर्म्मग्रन्थों की भाँति एक प्रकार का बिधि–निषेध–ग्रन्थ होगा, आदेशग्रन्थ होगा। इसी भ्रान्ति का यह अनुग्रह है कि, आज कितने एक राष्ट्रवादियों नें गीता को ही स्व–कर्म्म–निर्णय का मूलाधारशास्त्र मानते हुए भारतीय अन्य मन्वादि–विधिनिषेधात्मक शास्त्रों की उपेक्षा करने में हीं अपना अभ्युदय मान लिया है। राष्ट्रवादियों की इस गीताभक्ति का हृदय से अभिनन्दन करते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें उनके सम्मुख इस अप्रिय–सत्य का उद्घाटन करना ही पड़ेगा कि, यदि वे अपने कर्त्तव्य–कर्म्म के निर्णय के लिए अन्य शास्त्रों की उपेक्षा कर केवल गीताशास्त्र पर इसका उत्तरदायित्व डाल देंगे, तो उन्हें इस सम्बन्ध में सर्वथा निराश ही परावर्त्तित होना पड़ेगा। 'अमुक कर्म्म करो, अमुक कर्म्म न करो' इत्यादि विधि–निषेधभावों का गीता से कोई सम्बन्ध नहीं

÷–"देशे काल उपायेन द्रव्यं श्रद्धासमन्वितम् ।
प्राप्ते प्रदीयते यत्तत् सकलं धर्म्मलक्षणम्" ॥
—या० स्मृ० १।६।

—देशं कालं वयः शक्तिं पापं चावेक्ष्य यत्नतः ।
प्रायश्चित्तं प्रकल्प्यं स्याद्यत्र चोक्ता न निष्कृतिः ॥
—या० स्मृ० ५।२६३।

·|·—योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ॥
—गीता० ५।६।

हैं। यदि किसी कर्म्म, भक्ति, ज्ञान का विधान भी हुआ है, तो उसकी वास्तविक विधि (इतिकर्त्तव्यता) का तो गीताशास्त्र ने स्पर्श भी नहीं किया है । यज्ञकर्म्म के सम्बन्ध में भगवान् ने आदेश तो अवश्य दिया है *। परन्तु अथ से इतिपर्य्यन्त अन्वेषण कर जाइए, कहीं भी यज्ञेतिकर्त्तव्यता का उल्लेख उपलब्ध नहीं होगा । यही स्थिति अन्य शास्त्रीय विधि–विधानों की है। 'कैसे करें, क्यों करें' ? इस कर्म्मकौशलात्मक प्रश्न का समाधान करना ही गीताशास्त्र का मुख्य विषय है। जब गीता से यह पूँछा जाता है कि, 'क्या करें, क्या न करें' ?, तो वह विस्पष्ट शब्दों में यही घोषणा कर देती है कि,–'कर्त्तव्य (विधि), अकर्त्तव्य (निषेध) का निर्णय शास्त्र के आधार पर ही करना चाहिए +।"

८–अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा की अनुपयुक्तता—

इसमें कोई सन्देह नहीं कि, गीता ने कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य के सम्बन्ध में जिस शास्त्र की ओर सङ्केत किया है, उसकी परिभाषा आज कई एक कारणों से दुरूह बन रही है । देश का यह निःसीम दुर्भाग्य है कि, जिस किसी भी रस्ते चलने वाले व्यक्ति के द्वारा केवल संस्कृतभाषा में लिखे गए पत्रों नें आज 'शास्त्र' का बाना पहिन कर आस्तिक प्रजा को व्यामोह में डाल रक्खा है। विभिन्न मतवादों का पोषण करने वाले साम्प्रदायग्रन्थों नें शास्त्र की वास्तविक परिभाषा को इसप्रकार आवृत कर लिया है कि, सार्वभौम गीताशास्त्र आज मत–विशेषों का ही उपोद्‌बलक बन गया है, अथवा तो बना दिया गया है। मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र, एवं तदनुगामी स्मृतिशास्त्र ही वह मुख्य शास्त्र है, जिसका गीतोक्त 'शास्त्र' से संग्रह किया जा सकता है। परन्तु, तत्त्वतः शास्त्र की इस निष्ठा से भी काम चलता दिखाई नहीं देता । **'त्रैगुण्यविषया वेदाः'–'श्रुतिविप्रतिपन्ना०'** इत्यादि वचनों की ओर जब हमारा ÷ ध्यान जाता है, तो शास्त्र की कुछ और ही परिभाषा माननी पड़ती है । वर्णाश्रमधर्म्मप्रतिपादक श्रुति–स्मृतिशास्त्र भी

---

*–यज्ञदानतपःकर्म्म न त्याज्यं कार्य्यमेव तत् ।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥
—गीता० १८।५।

×–तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्य्याकार्य्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म्म कर्त्तुमिहार्हसि ॥
—गीता० १६।२४।

÷–त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ! ।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
—गीता० २।४५।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
—गीता० २।५३।

आवेशदशा में राग–द्वेषासक्ति का जनक बनता हुआ आत्मपतन का कारण बन जाता है । जब तक इस शब्दशास्त्र के मूल में गुणातीत, गुह्यतम ·|· अध्यात्मशास्त्र प्रतिष्ठित नहीं कर दिया जाता, तब तक यह मान्य शास्त्र भी अशास्त्र ही बना रह जाता है । विधि–निषेध के अभिनिवेश से व्यापक अध्यात्मशास्त्र को सीमित बना कर शास्त्रपथ का अनुसरण करने वाले अभिनिविष्ट जन केवल त्रिगुणभाव के ही पथिक बने रह जाते हैं । और यह ध्रुव सत्य है कि, जब तक हमारी आध्यात्मिक संस्था त्रिगुणभावापन्ना है, तब तक रागद्वेष का साम्राज्य है । एवं जबतक रागद्वेष का साम्राज्य है, तब तक वास्तविक शान्ति-सुख की प्राप्ति असम्भव है । एवं तन्मूलिका अभिनिविष्टा शास्त्रनिष्ठा सर्वथैव अनुपयुक्ता है ।

९–विलक्षण–पूर्ण, एवं अपूर्व गीताशास्त्र—

गुह्यतम अध्यात्मशास्त्र की तात्त्विक परिभाषाओं का श्रेय मिला गीताशास्त्र को । अध्यात्मविद्या ही अध्यात्मशास्त्र है, यही ब्रह्मविद्या है । इसे आधार बना कर भगवान् ने कौशलरूप 'योग' का स्वरूप-निरूपण किया । इसी योग के द्वारा बाह्य शास्त्रों का प्रतिष्ठापन किया । '**ब्रह्मविद्यायां-योगशास्त्रे**' रूप से अध्यायोपसंहार करने वाले गीताशास्त्र ने ब्रह्मविद्यात्मक आत्मशास्त्र, एवं तदनुगामी योग, इन दो तत्त्वों का ही विश्लेषण किया है । जिनके अनुगमन से, सम्बन्ध से, समन्वय से शास्त्रनिष्ठा भी त्रिगुणातीता बन कर शान्ति–सुख की प्रवर्त्तिका बन जाती है, एवं लोकनिष्ठा भी शान्ति–सुखप्रदात्री बन जाती है । शास्त्रनिष्ठापेक्षया गीताशास्त्र जहाँ भारतीय वर्णाश्रमधर्म्म के द्वारा भारतीय वर्णप्रजा का उपकारक बना हुआ है, वहाँ लोकनिष्ठापेक्षया सम्पूर्ण विश्व के मानवसमाज को अभ्युदय–पथ बतलाता हुआ सार्वभौम-शास्त्र बना हुआ है । यही इतर विधि–निषेधात्मक शब्दशास्त्रों की अपेक्षा गीताशास्त्र का विलक्षणत्त्व, पूर्णत्त्व, एवं अपूर्वत्त्व है, जिस विलक्षणता–पूर्णता–अपूर्वता का गीताभूमिका–प्रथमखण्ड (बहिरङ्गपरीक्षा) में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है ।

१०–गीता का औपनिषद्–भाव—

अध्यात्मविद्या से युक्त योगतत्त्वों को आधार बना कर चाहे आप शास्त्रनिष्ठा का अनुगमन करें, अथवा तो विशुद्ध लोकनिष्ठा के अनुगामी बने रहें, अभ्युदय निश्चित है । इस योगाधार को छोड़ कर चाहे आप शास्त्रनिष्ठा का पालन करें, चाहे लोकनिष्ठा का, पतन निश्चित है । फलतः हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, अध्यात्मविद्यानुगत योग ही शान्ति–सुख का अनन्य, एवं अन्यतम कारण है, जिसका उपनिषदों में सूक्ष्मरूप से विश्लेषण हुआ है, एवं गीताशास्त्र में जिस का विशदरूप से उपबृंहण हुआ है । अतएव यह गीताशास्त्र एक प्रकार का स्मृतिशास्त्र होता हुआ भी '**भगवद्गीतासूपनिषत्सु**' इत्यादि रूप से '**उपनिषत्**' नाम से व्यवहृत हुआ है । मौलिकरहस्यात्मिका मौलिक उपपत्ति ही 'उपनिषत्' है । गीताशास्त्र में ब्रह्मविद्या के विविध पर्वों की, एवं योग के विविध अङ्गों की उपनिषदों (मौलिक रहस्यों) का ही विश्लेषण हुआ है । अतएव इसे '**उपनिषत्सु**' इस बहुवचनान्त–प्रयोग से सम्बद्ध माना गया है ।

·|·–**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ ! ।**
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ! ॥
—गी० १५।२०।

११—आत्मविद्या के सोपाधिक पाँच विवर्त्त—

योगतत्त्व को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाली अध्यात्मविद्या ही ब्रह्मविद्या है, यही 'आत्मविद्या' है। यह आत्मविद्या ही पहिला, एवं मुख्य दृष्टिकोण है। इस आत्मविद्या के (आत्मा के) **'ब्रह्म-कर्म्म'** नामक दो दिव्यधातु माने गए हैं। सोपाधिक-विश्वानुगत आत्मा का ब्रह्म नामक दिव्यधातु **'ज्ञान'** नाम से, कर्म्म नामक दिव्यधातु **'क्रिया'** नाम से व्यवहृत हुआ है। ब्रह्मकर्म्मात्मक वही आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियात्मक वही आत्मा विश्वात्मा है। इसप्रकार उस एक ही आत्मतत्त्व के समष्टिलक्षण **'आत्मा,'** व्यष्टिलक्षण ब्रह्म-कर्म्मात्मक **'दिव्यात्मा'**, एवं व्यष्टिलक्षण ज्ञानक्रियात्मक **'विश्वात्मा'** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीसरे विश्वात्मा के ज्ञान-क्रिया, इन दो विवर्त्तों के तारतम्य से अवान्तर तीन आत्मविवर्त्त हो जाते हैं। विशुद्ध ज्ञानप्रधान वही विश्वात्मा **'ज्ञानात्मा'** है। विशुद्ध क्रियाप्रधान वही आत्मा **'कर्म्मात्मा'** है, उभयात्मक मध्यस्थ वही आत्मा **'कामात्मा'** है। इस दृष्टि से अध्यात्मविद्या के **'आत्मा, ब्रह्मकर्म्ममय दिव्यात्मा, ज्ञानात्मा, कर्म्मात्मा, कामात्मा'** ये पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। इन पाँच आत्मविवर्त्तों में से आत्मा, और दिव्यात्मा, ये दो आत्म-विवर्त्त तो योगमर्य्यादा से असंस्पृष्ट हैं। शेष तीनों विवर्त्त योगमर्य्यादा से संस्पृष्ट हैं। विश्वात्मा के ज्ञानात्मा से सम्बन्ध रखने वाला योग ही **'ज्ञानयोग'** है, कर्म्मात्मानुगत योग ही **'कर्म्मयोग'** है, एवं कामात्मानुगत योग ही **'भक्तियोग'** है। विश्वात्मांशभूत ज्ञान-काम-क्रियात्मक जीवात्मा ज्ञानद्वारा भी उस विश्वात्मा के ज्ञानात्मयोग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका ज्ञानयोग है। कामद्वारा भी उसके कामात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका भक्तियोग है। एवं क्रियाद्वारा भी यह उसके कर्म्मात्मभाग के साथ युक्त हो सकता है, यही इसका कर्म्मयोग है। इन पाँच आध्यात्मिक विवर्त्तों के स्पष्टीकरण के लिए, एवं विश्वात्मानुगता योग-त्रयी के स्पष्टीकरण के लिए क्रमशः **'आत्मपरीक्षा, ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, ज्ञानयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा,'** इन पाँच निबन्धों का पूर्व में विश्लेषण हुआ है।

१—आत्मा———————————————————**आत्मपरीक्षा**

२—**ब्रह्मकर्म्मयो दिव्यात्मा**———————————————**ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा**

३—**ज्ञानप्रधानो विश्वात्मा (ज्ञानात्मा)**———————————**ज्ञानयोगपरीक्षा**

४—**उभयप्रधानो विश्वात्मा (कामात्मा)**———————————**भक्तियोगपरीक्षा**

५—**क्रियाप्रधानो विश्वात्मा (कर्म्मात्मा)**——————————**कर्म्मयोगपरीक्षा**

* * *

१२—नव (९) खण्डात्मिका गीताविज्ञानभाष्यभूमिका की सन्दर्भसङ्गति—

गीताशास्त्रपरीक्षा ही हमारी परिभाषा में **'गीताभूमिका'** है। यह परीक्षातत्त्व **'बहिरङ्ग, अन्तरङ्ग, सर्वान्तरतम,'** भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। इसी क्रम से गीताशास्त्रपरीक्षात्मिका गीताभूमिका तीन खण्डों में विभक्त की गई है। प्रथमखण्ड 'बहिरङ्गपरीक्षात्मक' है, जिसमें गीताकाल, गीतानाम, आदि बहिरङ्ग विषयों का विश्लेषण हुआ है। आत्मतत्त्व अन्तरङ्ग पदार्थ है। इस अन्तरङ्ग आत्मतत्त्व के **'अन्तरङ्ग'** और **'निगूढ'** (गुह्य) भेद से दो विवर्त्त परीक्षासिद्ध हैं। ज्ञान, क्रिया, इन दोनों विश्वात्मपर्वों से युक्त ज्ञानात्मा,

कर्म्मात्मा, दोनों विवर्त्त अन्तरङ्ग आत्मा है । भक्तिपर्वानुगत कामात्मा निगूढ आत्मा है । इसी आधार पर आत्मा, ब्रह्मकर्म्म, कर्म्मात्मा, ज्ञानात्मा, इन चारों की समष्टि का 'अन्तरङ्गपरीक्षा' में अन्तर्भाव मान लिया गया है । कामात्मा, एवं निष्कामात्मा, इन दो निगूढ विवर्तों से सम्बद्धा परीक्षा 'सर्वान्तरतमपरीक्षा' मान ली गई है । एवं इसी दृष्टिकोण को आलम्बन बना कर गीताशास्त्रपरीक्षा प्रवृत्त हुई है । अन्तरङ्गपरीक्षान्तर्गत-'आत्मपरीक्षा' का 'क' विभागात्मक एक स्वतन्त्र खण्ड में निरूपण हुआ है । ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा, एवं कर्म्मयोग-परीक्षा का अंशात्मकभाग, दोनों का 'ख' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में, शेष कर्म्मयोगपरीक्षा का 'ग' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में, एवं अन्तरङ्गपरीक्षात्मिका अन्तिम ज्ञानयोगपरीक्षा का 'घ' विभागात्मक स्वतन्त्र खण्ड में विश्लेषण हुआ है । इसप्रकार अन्तरङ्गपरीक्षात्मक भूमिका द्वितीयखण्ड से सम्बन्ध रखने वाली आत्म-ब्रह्मकर्म्म-कर्म्मयोग-ज्ञानयोग-इन चार परीक्षाओं का क्रमशः क-ख-ग-घ-, इन चार अवान्तर खण्डों में विश्लेषण हुआ है ।

कारणविशेष से ज्ञानात्मा को अन्तरङ्ग आत्मा मान कर तदनुगता ज्ञानयोगपरीक्षा का अन्तरङ्गपरीक्षा में अन्तर्भाव माना लिया गया है । एवं मध्यस्थ रहने वाले भी कामात्मा को कारणविशेष से निगूढ(सर्वान्तरतम) आत्मा मानते हुए तदनुगता भक्तियोगपरीक्षा का सर्वान्तरतमपरीक्षा में अन्तर्भाव माना गया है । इस भक्ति-योगपरीक्षा के क-ख-रूप से अवान्तर दो खण्ड हुए हैं । कर्म्मयोगाधिष्ठाता अन्तरङ्ग कर्म्मात्मा, ज्ञानयोगाधिष्ठाता अन्तरङ्ग ज्ञानात्मा, भक्तियोगाधिष्ठाता सर्वान्तरतम कामात्मा, तीनों से अतीत, तीनों में एकरसरूप से व्याप्त बुद्धियोगाधिष्ठाता निगूढ निष्कामात्मा ही अन्तिम तात्त्विक आत्मपर्व है । इसीका प्रस्तुत 'ग' विभागात्मक-**'बुद्धियोगपरीक्षा'** नामक सर्वान्तरतमपरीक्षा के तृतीयखण्ड में विश्लेषण अभीष्ट है । सर्वान्त में 'घ' विभागात्मक चतुर्थ खण्ड में **'गीतासारपरीक्षा'** का विश्लेषण हुआ है । इसप्रकार निगूढ आत्मानुगत योग-स्वरूप विश्लेषक सर्वान्तरतमपरीक्षात्मक भूमिका तृतीयखण्ड के भी द्वितीयखण्डवत्-भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड, भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड, बुद्धियोगपरीक्षा, गीतासारपरीक्षा, ये चार अवान्तर खण्ड हो जाते हैं, जिनका क-ख ग-घ-रूप से विभाजन हुआ है । सम्भूय त्रिखण्डात्मिका गीतापरीक्षात्मिका गीताभूमिका के ९ खण्ड हो जाते हैं, जिनमें से ४ खण्ड गतार्थ हैं । ५-६-७-तीन खण्ड अप्रकाशित हैं । ८ वाँ खण्ड प्रक्रान्त है । नवम खण्ड प्रतीक्ष्य बना हुआ है * ।

*-बहिरङ्गपरीक्षात्मक प्रथमखण्ड, एवं अन्तरङ्गपरीक्षात्मक द्वितीयखण्ड के आत्मपरीक्षा,-ब्रह्मकर्म्म-परीक्षा,-कर्म्मयोगपरीक्षा,-नामक क-ख-ग-ये तीन अवान्तरखण्ड, सम्भूय अद्यावधि ४ चार भूमिका खण्ड प्रकाशित हुए हैं । प्रस्तुत खण्ड से पूर्व अभी अन्तरङ्गपरीक्षा का 'ज्ञानयोगपरीक्षा' नामक 'घ'-कारात्मक पञ्चम-खण्ड, तथा सर्वान्तरमयपरीक्षात्मक तृतीयखण्ड के भक्तियोगपरीक्षा पूर्वखण्ड (क), उत्तरखण्ड (ख)ये-६-७ खण्ड अप्रकाशित हैं ।

नवखण्डगर्भिता—त्रिखण्डात्मिका—गीतापरीक्षात्मिका—गीताभूमिका—

१—	१-*—बहिरङ्गपरीक्षा	—बहिरङ्गपरीक्षात्मकः-प्रथमखण्डः (१)
२—	१-(क)-आत्मपरीक्षा (आत्मानुगता)	—अन्तरङ्गपरीक्षात्मकः-द्वितीयखण्डः (२)
३—	२-(ख)-ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा (ब्रह्मकर्म्मानुगता)	
४—	३-(ग)-कर्म्मयोगपरीक्षा (कर्म्मात्मानुगता)	
५—	४-(घ)-ज्ञानयोगपरीक्षा ज्ञानात्मानुगता)	
६—	१-(क)-भक्तियोगपरीक्षा (पू०खं०) (कामात्मानुगता)	सर्वान्तरतमपरीक्षात्मकस्तृतीयखण्डः(३)
७—	२-(ख)-भक्तियोगपरीक्षा (उ०खं०) (कामात्मानुगता)	
८—	३-(ग)-बुद्धियोगपरीक्षा (निष्कामात्मानुगता)	
९—	४-(घ)-गीतासारपरीक्षा (सर्वानुगता)	

१३—विद्या, एवं योगानुगत गीताशास्त्रनिष्कर्ष—

आत्मा के जिन पाँच विवर्त्तों का पूर्व में दिग्दर्शन कराया गया है। वस्तुतः एक अन्य दृष्टि से उन का चार विवर्त्तों पर ही अवसान मानना न्याय्य होगा। चार भी नहीं, दो ही विवर्त्त, एक निगूढ आत्मा,-दूसरा विश्वात्मा। निगूढात्मा विश्वातीत आत्मा है, विश्वात्मा विश्वचर है। विश्वचर विश्वात्मा ज्ञान-क्रियामय है, विश्वातीत निगूढ आत्मा ब्रह्मकर्म्ममय है। ब्रह्मकर्म्ममय निगूढ आत्मा दिव्यात्मा है, ज्ञानक्रियामय विश्वात्मा लौकिक आत्मा है। दिव्यात्मा निरुपाधिक है, लौकिक आत्मा सोपाधिक है। निरुपाधिक-आत्मविद्या गुह्यविद्या है, तदनुगत निरुपाधिक योग भी गुह्ययोग है। सोपाधिक आत्मविद्या श्रद्धाविद्या है, तदनुगत सोपाधिक योग भी श्रद्धायोग है। श्रद्धा आत्मविद्या, एवं तदनुगत श्रद्धायोग, दोनों की मूलप्रतिष्ठा गुह्ययोगानुगता गुह्य आत्मविद्या है। यही गीतानिष्कर्ष है। श्रद्धा आत्मविद्या, एवं श्रद्धायोग भागत्रय में विभक्त है। तीनों का आधार बना हुआ अनद्धाविद्यात्मक अनद्धायोग निष्कल है। इसप्रकार निष्कल गूढ अनद्धा **'आत्मा'**, सकल-श्रद्धा **'ज्ञानात्मा-कामात्मा-कर्म्मात्मा'** ये चार तो आत्मविद्यापर्व हो जाते हैं, एवं निष्कल निगूढ अनद्धा **'बुद्धियोग'**, सकल-श्रद्धा **'ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्म्मयोग,** ये चार योग हो जाते हैं। **'ब्रह्मविद्यायाम्'** से यही चतुर्विधा आत्मविद्या अभिप्रेत है। एवं **'योगशास्त्रे'** से यही चतुर्विध योग अभिप्रेत है। यही सम्पूर्ण गीताशास्त्रनिष्कर्ष है।

१४–निरूपणीय विषय की सन्दर्भसङ्गति—

युगधर्म्मानुसार जब जब अनद्धा आत्मा से सम्बद्ध अनद्धा योग (बुद्धियोग) लुप्त हुआ, तब तब ही इस पर प्रतिष्ठित रहने वाली योगत्रयी की शृङ्खला मर्य्यादा से च्युत होती हुई अनिष्ट का कारण बनी। अनेक बार इस त्रुटि का तत्त्ववेत्ताओं के द्वारा सन्धान हुआ, काल पा कर सन्धान विच्छिन्न हुआ। महाभारत युग में भगवान् कृष्णद्वारा इसका पुनरुद्धार हुआ। आगे जाकर साम्प्रदायिक युग के अनुग्रह से पुनः वह सिद्धान्त अस्तप्राय हो गया। यही कारण है कि, उपलब्ध होने वाले यच्चयावत् गीताभाष्यों, टीकाओं में ज्ञान-भक्ति-कर्म्मयोग की ही अहमहमिका उपलब्ध हो रही है। बुद्धियोगात्मक एक धरातल से विच्युता योगत्रयी आज अभ्युदय-निःश्रेयस् के स्थान में प्रत्यवाय का कारण ही बनी हुई है। गुह्य बुद्धियोग आज पुनः एकान्ततः गुह्य बन चुका है। बुद्धियोग-निष्ठावञ्चिता निष्ठात्रयी आज शान्ति-सुख के स्थान में अशान्ति-दुःख की सन्देशवाहिका बन रही है। और इसी आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि, वर्त्तमान-युग के ज्ञानी-भक्त-कर्म्मठ, शास्त्रनिष्ठ जन, एवं लोकनिष्ठ व्यावहारिक लोग, सभी एकमात्र बुद्धियोगनिष्ठा से वञ्चित रहते हुए प्रयास करने पर भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर रहे, नाँहीं बिना बुद्धियोग को आधार बनाए शान्ति-सुख सम्भव। तीनों योग तभी शान्ति-सुख के प्रवर्त्तक बन सकते हैं, जबकि इन तीनों को बुद्धियोगस्वरूप में परिणत कर दिया जाय। बुद्धियोगात्मक ज्ञानयोग, बु० कर्म्मयोग, बु० भक्तियोग, इन तीनों योगों का ही पूर्व में क्रमशः ज्ञानयोगपरीक्षा, कर्म्मयोगपरीक्षा, भक्तियोगपरीक्षा-खण्डों में विश्लेषण हुआ है। ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा में दिव्य-गूढोत्मा के दिव्य ब्रह्म-कर्म्म पर्वों का विश्लेषण हुआ है। एवं आत्मपरीक्षा में समष्टिरूप से आत्मपरीक्षा हुई है। अब प्रस्तुत परीक्षा-प्रकरण में गीता के मूलसिद्धान्तरूप उस 'बुद्धियोग' का ही स्वरूप विश्लेषण किया जा रहा है, जो कि वर्त्तमान भाष्य-टीका-दृष्टियों से सर्वथा अतीत, प्राचीन व्याख्याताओं में से एकमात्र अभिनवगुप्ताचार्य्य के द्वारा ही 'गच्छतः स्खलनं' रूप से समर्थित है। यही प्रस्तुत प्रकरणानुगता **सन्दर्भसङ्गति** है, जिसे लक्ष्य बना कर ही निरूपणीय विषय का समन्वय करना चाहिए।

१ आत्मा } –(आत्मपरीक्षा)
–निष्कामात्मा—बुद्धियोगपरीक्षा } –विश्वातीतः (१)
२ ब्रह्मकर्म्ममयो दिव्यात्मा } –(ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा)

१–ज्ञानात्मा—ज्ञानयोगाधिष्ठाता—ज्ञानयोगपरीक्षा
२–कामात्मा—भक्तियोगाधिष्ठाता—भक्तियोगपरीक्षा } –विश्वात्मा (२)
३–कर्म्मात्मा—कर्म्मायोगाधिष्ठाता—कर्म्मयोगपरीक्षा

* * * *

इति–बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे 'सन्दर्भसङ्गति' नामकः

प्रथमस्तम्भः–उपरतः

(१)–१

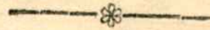
श्रीः

'बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचन' नामक प्रथमप्रकरणान्तर्गत

'सन्दर्भसङ्गति' नामक

प्रथमस्तम्भ—उपरत

(१)—१



श्रीः

अथ बुद्धियोगस्वरूपनिर्वचनात्मके प्रथमप्रकरणे
'योगेश्वरस्य तात्त्विक-स्वरूपनिरूपणम्' नामकः-
द्वितीयस्तम्भः

(१)—२



श्रीः

योगेश्वरस्य तात्त्विकस्वरूपनिरूपणम्

द्वितीयस्तम्भः

---❀---

१—ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदिग्दर्शन—

जिस अलौकिक, अपूर्व, पूर्ण, विलक्षण योग (बुद्धियोग) का विश्लेषण अभीष्ट है, प्रथम उस अपूर्व-योग के आधारभूत योगेश्वर का स्वरूप ही विजिज्ञास्य है। योगतत्त्व की मूलप्रतिष्ठा आत्मविद्या मानी गई है, एवं इसी को 'ब्रह्मविद्या' कहा गया है। एक ही आत्मतत्त्व ब्रह्मविद्या, और योगभेद से दो भावों में परिणत हो रहा है। ब्रह्मविद्यानुगत, किंवा ब्रह्मविद्यात्मक वही आत्मा ब्रह्म है, इस ब्रह्म की स्वरूपस्थिति ही **'ब्राह्मी-स्थिति'** है। योगानुगत, किंवा योगात्मक वही आत्मा योग है, इस योग की स्वरूपस्थिति ही 'योगस्थिति' है। योगस्थिति ब्राह्मीस्थिति पर प्रतिष्ठित है, ब्राह्मीस्थिति योगस्थिति के सहयोग से विकसित है। ब्राह्मीस्थिति स्थितिलक्षणा है, योगस्थिति गतिलक्षणा है। गतिलक्षणा योगस्थिति स्थितिलक्षणा ब्राह्मीस्थिति को आधार बना कर स्वयमपि स्थितिभावात्मिका बन जाती है। ऐसे आत्मस्थितियुक्त योग के लिए ही **'तां योगमिति-मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'** (कठोपनिषत् ६।११।) यह कहा गया है। ठीक इसके विपरीत ब्राह्मीस्थिति-रूप स्थितितत्त्व से वञ्चिता गतिरूपा योगस्थिति मृत्युलक्षण स्वानुगत गतिभाव के कारण व्यामोह का कारण बन जाती है। सहजभाषा में यों समन्वय कीजिए कि, ब्राह्मीस्थिति ब्रह्म है, योगस्थिति कर्म्म है। यदि कर्म्म ब्रह्म को आधार बना कर किया जाता है, तो असङ्ग ब्रह्म के आधार बन जाने से कर्म्मजनित संस्कारलेप का आत्मा के सम्बन्ध नहीं होने पाता। आत्मा अपनी स्वाभाविक ब्राह्मीस्थिति में बना रहता है *। यदि ब्रह्माधार का परित्याग कर दिया जाता है, तो स्वरूपतः संसक्तिधर्म्मा कर्म्म संस्कारलेप-बन्धन का प्रवर्त्तक बनता हुआ आत्मा के स्वाभाविक विकास का आवरक बन दुःखप्रवृत्ति का कारण प्रमाणित हो जाता है। निष्कर्षतः ब्राह्मीस्थिति का सम्यक् परिज्ञान ही व्यामोहनिवृत्ति का अन्यतम कारण है, जैसाकि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है—

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ (गीता२।७२।)।

२—ब्राह्मीस्थितिमूलक योगेश्वर—

उक्त श्लोक से पहिले अनेक श्लोकों में 'स्थितप्रज्ञता' का विश्लेषण हुआ है। स्थितप्रज्ञता ही ब्राह्मी-स्थिति है। प्रज्ञान मन का प्रज्ञा भाग काममय वैषयिक संस्कारों से उसी प्रकार आन्दोलित हो पड़ता है, जैसे

---

*—**ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।**
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी०५।१०।)।

कि एक सरोवर पाषाणप्रक्षेप से । अथवा यों समझिए कि, जैसे समुद्रप्रवाह में शान्त-धीरगति से प्रवाहित एक नौका झञ्झावात के प्रत्याघात से डगमगा जाती है, अपनी स्वाभाविक गतिरूपा स्थिति छोड़ बैठती है, एवमेव सांसारिक कामनामय समुद्र में योगक्षेम-निर्वाह के लिए शान्त-धीरगति से प्रवाहित नौकास्थानीय प्रज्ञानमन रागासक्ति-द्वेषासक्तिरूप झञ्झावात के प्रत्याघात से डगमगा जाता है + । सर्वसाधारण की दृष्टि में लौकिक विषय बन्धन के कारण हैं । परन्तु तत्त्वतः कोई भी विषय बन्धन का कारण नहीं है । देहधारी की सत्ता विषयग्रहण पर ही जब निर्भर है, तो वह इनका आत्यन्तिक परित्याग कर भी कैसे सकता है । प्राकृतिक-ऐन्द्रियक वेगों का निरोध सर्वथा असम्भव है * । बन्धन का कारण है रागद्वेषात्मिका स्पृहा, लिप्सा, कामलिप्तता, आसक्ति । इन्द्रियों को अपना काम करने दीजिए, आत्मा के साथ मन का योग बनाए रखिए, कोई हानि नहीं है । यही तो प्रसाद की प्राप्ति का अन्यतम उपाय है × । रागद्वेषानुगता आसक्ति से मन कामकामी बनता हुआ आत्मयोगलक्षणा ब्राह्मीस्थिति से वञ्चित रहता हुआ अशान्त बन जाता है । अशान्त मन स्वोपरि प्रतिष्ठिता बुद्धि को अशान्त कर देता है । अयुक्त मनोऽनुगता ऐसी अस्थिर बुद्धि स्थितिलक्षण स्व-स्वरूप को ही खो बैठती है । सदसद्विवेकभावना लुप्त हो जाती है, किं कर्त्तव्यं, किं न कर्त्तव्यं-लक्षणा अशान्ति उद्बुद्ध हो जाती है, फलस्वरूप शान्तिमूलक वास्तविक आत्मसुख पलायित हो जाता है ÷ । ठीक इसके विपरीत रागद्वेषवियुक्तिपूर्वक विषयानुगमन करता हुआ भी मन आपूर्य्यमाण आत्मयोग की अचलप्रतिष्ठा-लक्षणा ब्राह्मीस्थिति में प्रतिष्ठित रहता हुआ शान्त-सुस्थिर बना रहता है । इसके शान्त रहने से बुद्धि शान्त रहती है, बुद्धि के स्वाभाविक व्यवसायलक्षण आत्मयोग का विकास रहता है । आत्मविकासरूप आत्मप्रसाद से युक्त ऐसा मन, और ऐसी बुद्धि दोनों प्रसादगुण से युक्त बनें रहते हैं ‡ । यही ब्राह्मीस्थिति है । प्रज्ञानमन की प्रज्ञा

+-इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ (गी०२।६७) ।

*-न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत् ।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ (गी०३।५) ।

×-रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ (गी०२।६४) ।

÷-नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गी०२।६६) ।

‡-प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्य्यवतिष्ठते ॥ (गी०२।६५) । (१)
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्म्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (गी०२।७१) । (२)
आपूर्य्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥ (गी०२।७०)। (३)

का स्थिर हो जाना ही ब्राह्मीस्थिति है,जिससे गीता में'स्थितप्रज्ञता'नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यह स्थितप्रज्ञता कैसे प्राप्त हो ?, प्रश्न का तात्त्विकों नें भिन्न भिन्न समाधान किये हैं। सभी समाधान स्थितिभेद से संग्राह्य हैं। प्रकृत में इस प्रश्न के समाधान के सम्बन्ध में हम अपनी ओर से 'ब्राह्मीस्थिति' का स्वरूप विश्लेषण ही अधिक समीचीन समझ रहे हैं। ब्रह्म की तात्त्विक स्थिति (अवस्थान, व्याप्ति) ही ब्राह्मीस्थिति है। निःसंदिग्ध है कि, तत्त्वज्ञान के अभाव से, ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूपज्ञानाभाव से ही असत् में सत् का; एवं सत् में असत् का व्यामोह हो जाता है। एक तत्त्ववादी जिसे सत् मान कर सुख का कारण कह रहा है, अतत्त्ववादी लौकिक मनुष्य की दृष्टि में वही सत् असत् बना हुआ है। जिसे इसने सत् मान लिया है, तत्त्ववादी की दृष्टि में वही असत् है, एवं यह असत्प्रवृत्ति ही उसकी दुःखप्रवृत्ति का मूलकारण बन रही है। विवेकज्ञान ही विषयस्पृहा का निवर्त्तक है। सदसद्विवेक ही विवेकज्ञान है, विवेकज्ञान ही ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपदर्शक है। अतएव कहा जा सकता है कि, ब्राह्मीस्थिति का स्वरूपज्ञान ही शान्ति की अन्यतम प्रतिष्ठा है। ब्राह्मीस्थिति का अर्थ है ब्रह्म की लोक में स्थिति। ब्रह्म जिस रूप से विश्व में स्थित हो रहा है, ब्रह्म की वह विश्वस्थिति ही ब्राह्मीस्थिति है। इस स्थिति का परिज्ञान ही तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान ही निःश्रेयस का कारण है— **'तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः'** (न्या०सू०)। तत्त्वज्ञानात्मिका ब्राह्मीस्थिति ही ब्रह्म का वास्तविक (तात्त्विक) स्वरूप है। फलतः ब्राह्मीस्थिति का स्वरूप– विश्लेषण ही ब्रह्म का स्वरूपविश्लेषण है। योगाधिष्ठाता वह ब्रह्म ही योगेश्वर है। योगेश्वर की ब्राह्मीस्थिति का विश्लेषण ही योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण है। उसी की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

३—'योगेश्वर' का 'योग', और 'ईश्वर'—

'योगेश्वर' शब्द में 'योग'–'ईश्वर' इन दो शब्दों का समन्वय है। दोनों में से 'योग' स्वरूप अगले स्तम्भ के लिए छोड़ा जाता है, एवं योग के 'ईश्वर' (अधिष्ठाता) रूप 'ईश्वर' शब्द की मीमांसा आरम्भ की जाती है। 'ईश्वर' शब्द पौराणिक है, यथाकथञ्चित् दर्शनशास्त्र के द्वारा भी संगृहीत, परन्तु सर्वसाधारण को 'ईश्वर' शब्द से जिस जगदीश्वर–जगन्नियन्ता का बोध होता है, उस अर्थ में ईश्वर शब्द वेदशास्त्र में अप्रयुक्त है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों में ईश्वर शब्द प्रयुक्त अवश्य हुआ है, परन्तु उससे विश्वेश्वर कहीं भी अभिप्रेत नहीं है, अपितु–सर्वत्र ईश्वर शब्द से–'समर्थ' अर्थ का ही ग्रहण हुआ है*। वैदिक साहित्य में इस नियन्ता के लिए 'ईश'–'ईशिता'–'सर्वज्ञ'–'परात्पर'–आदि शब्द ही प्रयुक्त हुए हैं। विचार हमें गीता के बुद्धियोग का करना है, अतः अन्य प्रपञ्चों में न पड़ कर हमें गीतादृष्टि से ही 'ईश्वर' शब्द का समन्वय करना है। गीता किसे ईश्वर कहती है ?, उत्तर में गीता के ही निम्न लिखित सिद्धान्त पर दृष्टि डालिए—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१॥

---

*—'गृहा वै दुर्याः। ते हैत ईश्वरो गृहा यजमानस्य, यो ऽस्यैषोऽध्वर्युर्यज्ञेन चरति। तं प्रयन्तमनु प्रच्योतोस्तस्येश्वरः कुलं विक्षोब्धोः'। (शत०ब्रा०१।१।२।२२।)।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥२॥ (गीता१५।१६,१७,।)।

अक्षरार्थ यही है कि–'इस लोक में क्षर, अक्षर नाम के ये दो पुरुष हैं । सम्पूर्ण भूत क्षर है, कूटस्थ अक्षर कहा जाता है । उत्तम पुरुष तो (इन दोनों से) अन्य है, जो 'परमात्मा' इस नाम से व्यवहृत हुआ है । एवं जो अव्यय–ईश्वर तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर सब का धारण–पोषण करता है' । जिन गीताप्रेमियों नें गीताभूमिका के पूर्वखण्डों का अवलोकन किया होगा, उनके लिए ये तीनों पुरुष सर्वथा परिचित होंगे । परन्तु व्यावहारिक जगत् की प्रवृद्ध निष्ठा के कारण जिन्हें पर्य्याप्त समय न मिला होगा, उनके लिए दो शब्दों में इस पुरुष–त्रयी के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनुचित न होगा । साथ ही दृष्टिकोण–भेद से प्रस्तुत स्तम्भ में प्रतिपादित त्रिपुरुषविज्ञान पूर्वदृष्ट महानुभावों के लिए भी अनुरञ्जक ही प्रमाणित होगा ।

४–अभिव्यक्तिचलक्षण व्यक्तित्त्व, एवं विश्वस्वरूपदिग्दर्शन—

चल, अचल–भावात्मक चराचर पाञ्चभौतिक विश्व में व्यष्टिलक्षण जितनें भी पदार्थ हमें प्रतीत हो रहे हैं, वे सब 'व्यक्ति' नाम से प्रसिद्ध हैं । अणु से आरम्भ कर महान् पर्य्यन्त जितनें भी पदार्थ हैं, वे सब पृथक् पृथक् आत्मसत्ता रखते हुए ही अभिव्यक्त हो रहे हैं । इसी आधार पर व्यक्ति का **'व्यक्तिस्तु पृथगात्मता'** यह लक्षण किया गया है । यह पृथगात्मता ही तत्तत्–भौतिक पदार्थों की अभिव्यक्ति का कारण है । घटात्मा घटसत्तारूप है, पटात्मा पटसत्तारूप है । घटसत्ता मनःप्राणवाङ्मयी है । घटरूप, घटनाम, घटकर्म्म, तीनों की समष्टि ही घट का घटत्त्व है । नामरूप–कर्म्मात्मक घट का आत्मा मनःप्राणवाङ्मय है । घटात्मा के मनः पर्व से घटरूप का, प्राणपर्व से घटकर्म्म का, वाक्पर्व से घटनाम का विकास हुआ है । मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व इसी घट का अमृतरूप है, नामरूप–कर्म्मसमष्टि इसी घट का मर्त्यरूप है । 'घटोऽस्ति' इस वाक्य में 'घटः'–'अस्ति' ये दो पर्व हैं । 'घटः' यह नामरूपकर्म्मात्मक मर्त्य पर्व है, परिवर्त्तनशील है । 'अस्ति' यह मनःप्राणवाङ्मय अमृत पर्व है, अपरिवर्त्तनीय है, जैसाकि आगे स्पष्ट होने वाला है । सर्वव्यापक अस्ति तत्त्व ही 'सत्ता' है । यही नामरूपकर्म्मोपाधिभेद से पृथक्–पृथक् भावों से युक्त होकर पृथक्–पृथक् अभिव्यक्तियों की मूलप्रतिष्ठा बन रही है । सोपाधिक सत्तारूप मनःप्राणवाङ्मय तत्त्व ही नामरूपकर्म्मात्मिका व्यक्ति की पृथगात्मता है । तभी तक उस समष्टि की अस्तित्वरूपेण अभिव्यक्ति है, भान है, सत्ता है, अस्तित्त्व है । अतएव कहा जा सकता है कि, नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक पदार्थ की जो अभिव्यक्ति है, वह वस्तुतः तदाधार, तदात्मरूप, अस्तिलक्षण आत्मतत्त्व की ही अभिव्यक्ति है । आत्माभिव्यक्ति ही पदार्थाभिव्यक्ति है । पदार्थ की अभिव्यक्ति ही उसका व्यक्तित्त्व है । इसप्रकार एक एक व्यक्ति उसी की पृथक् पृथक् अभिव्यक्ति है । 'व्यक्ति' रूपा अभिव्यक्ति के गर्भ में नामरूपकर्म्म की भी अभिव्यक्ति है, मनःप्राणवाङ्मय अस्तिभाव की भी अभिव्यक्ति है । दोनों अभिव्यक्तियों के समन्वितरूप का ही नाम 'व्यक्तित्त्व' है, यही कार्य्यात्मक विश्व का समष्टि एवं व्यष्टिरूप से संक्षिप्त स्वरूपविश्लेषण है ।

५–आधुनिकशास्त्र का 'कारणतावाद'—

'व्यक्ति' लक्षण कार्य्यात्मक विश्व अवश्य ही कर्तृजन्य है, क्योंकि–'यद्यत् कार्य्यं–तत्तत् कर्तृजन्यम्' न्याय अपवादरहित न्याय है । घट–पट–मठादि जैसे अस्मदादि–कारणों के बिना अनुपपन्न हैं, एवमेव सूर्य्य,

चन्द्र, ग्रह, ओषधि, वनस्पति, आदि प्राकृतिक कार्य्य भी अवश्य ही किसी न किसी कारण की अपेक्षा रख रहे हैं। इन प्राकृतिक कार्य्यों का कारण कौन ?, प्रश्न के उत्तर में प्राधानिक विद्वानों नें 'कारण' शब्द ही हमारे सम्मुख उपस्थित किया है। '**कार्य्यते अनेन**' निर्वचनानुसार कार्य्य का पूर्ववर्त्ती रूप ही 'कारण' कहलाया है। यही कारण कार्य्यात्मक विश्व का कारण है। कारण नामक यही कारण प्राधानिक परिभाषा में–'**कृतेः–कार्य्यस्य प्र–प्रथमावस्था**' निर्वचन से 'प्रकृति' कहलाया है। जिस प्रकृतिरूप कारण का–'**प्रकृतिः कर्त्री, पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः, किन्तुः चेतनः**' इन शब्दों में विश्लेषण हुआ है। '**अन्यथासिद्धि-शून्यत्वे सति नियतपूर्ववर्त्तित्त्वम्**' ही कारणत्त्वं है, यही प्रकृतित्वं है, एवं यही दार्शनिक कारणतावाद की विश्रामभूमि है, जिसे मान कर ही वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हो जाते। प्रकृति के कारणतावाद को अक्षुण्ण बनाए रखते हुए भी इस सम्बन्ध में हमें उस वैज्ञानिक कारणतावाद का विश्लेषण करना पड़ेगा, जिसके परिचय के बिना न तो कार्य्यस्थिति का ही समन्वय सम्भव, एवं न कार्य्यस्थिति की आधारभूता निरूपणीया ब्राह्मीस्थिति का ही समन्वय सम्भव।

६–विश्वकारणत्रयी का स्वरूपदिग्दर्शन—

वर्त्तमान युग के अनन्य सर्वश्रेष्ठ वैदिकविज्ञानाविष्कारक, विलुप्त गीतातत्त्व के पुनरुद्धारक, प्रातः-स्मरणीय श्री श्री गुरुवर का कारणवाद के सम्बन्ध में जो तात्त्विक विश्लेषण हुआ, उसके समन्वय के बिना ब्राह्मीस्थितिलक्षण योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का स्पष्टीकरण असम्भव है, अतः उसी का संक्षेप से दिग्-दर्शन कराया जा रहा है। उक्त विज्ञानाचार्य्य का इस सम्बन्ध में यह निर्णय हुआ है कि, अभिव्यक्त रहने वाली प्रत्येक व्यक्ति के '**निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी**' ये तीन धातु आरम्भक (उपादान) बनते हैं। इन्हीं तीनों से व्यक्ति का उद्भव (उत्पत्ति) होता है, इन्हीं तीनों पर वस्तु प्रतिष्ठित (स्थिति) रहती है, एवं इन्हीं तीनों में व्यक्ति विलीन (लय) हो जाती है। निष्कल, षोडशी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला प्रतिमाषोडशी व्यक्ति का उद्भव बनता है, इसी को दार्शनिक भाषा में **समवायिकारण** (उपादानकारण) कहा जासकता है। निष्कल और प्रतिमाषोडशी, दोनों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला षोडशीतत्त्व व्यक्ति का प्रतिष्ठापक बनता है, इसी को दर्शनभाषा में '**निमित्तकारण**' कहा जा सकता है। षोडशी, और प्रतिमाषोडशी, दोनों को अपने गर्भ में रखने वाला निष्कलतत्त्व व्यक्ति का लयस्थान बनता है, इसी को दर्शनभाषा में '**असमवायिकारण**' कहा जा सकता है। असमवायिकारण निष्कल है, निमित्तकारण षोडशी है, समवायिकारण प्रतिमाषोडशी है। और इस दृष्टि से दार्शनिक कारणतावाद का भी इस वैज्ञानिक कारण-तावाद के साथ निर्विरोध समतुलन हो जाता है। असमवायिकारणरूप निष्कल तत्त्व आलम्बन (आवपनरूप आधार) है, इसे ही '**किं स्विदासीदधिष्ठानम्**' (ऋक्सं०१०।८१।२।) के अनुसार '**अधिष्ठान**' कहा गया है। निमित्तकारणरूप षोडशीतत्त्व कर्त्ता है। एवं समवायिकारणरूप प्रतिमाषोडशीतत्त्व कारण (उपादान) है, यही विज्ञानभाषा में-'**आरम्भणं कतमत्स्वित्**' के अनुसार '**आरम्भण**' नाम से व्यवहृत हुआ है। आलम्बन, कर्त्ता, कारण तीनों कारणों को ही कार्य्यरूप व्यक्ति के प्रति कारण माना गया है। इसी आधार पर–'**कारणसमुदायस्य कार्य्यं प्रति कारणत्त्वं, न तु कारणस्य**' यह न्याय व्यवस्थित हुआ है। सृष्टि-कर्म्म के लिए अवश्य ही तीनों कारण अपेक्षित हैं। घटनिर्म्माणप्रक्रिया को देखिए न ! आलम्बनरूप चक्र, उपादानरूप आर्द्र मृण्मय पिण्ड, स्वयं प्रजापति (कुम्भकार), तीनों के समन्वय से घटकार्य्य का स्वरूप सम्पन्न होता है। निर्म्माण का आधार, निर्म्माणसामग्री, निर्म्माता, प्रत्येक कार्य्य में तीन कारण आवश्यक

हैं। तीनों क्योंकि अविनाभूत हैं, अतएव तीनों को ही तीनों कारणताओं से युक्त माना जा सकता है। इसी आधार पर हमनें पूर्व में तीनों को व्यक्ति का आरम्भक (उत्पादक) कह दिया है। आलम्बनरूप निष्कल कारण के गर्भ में आरम्भकरूप प्रतिमाषोडशी, निमित्तरूप षोडशी दोनों हैं। अतएव निष्कल को भी आरम्भक, निमित्त कहा जा सकता है, परन्तु प्रधानरूपेण निष्कलतत्त्व को आलम्बन ही माना जायगा। एवमेव षोडशी के गर्भ में भी दोनों हैं, इसलिए यह निमित्त के साथ साथ आलम्बन, आरम्भक भी कहा जा सकेगा, परन्तु प्रधानरूप से इसे निमित्त ही माना जायगा। एवमेव प्रतिमाषोडशी के गर्भ में भी दोनों भुक्त हैं। अतएव यह भी यद्यपि निमित्त, आलम्बन माना जा सकेगा, तथापि मुख्यतः इसे आरम्भक ही कहा जायगा। तात्पर्य्य कहने का यही है कि, व्यक्तिरूप कार्य्य के प्रति निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, तीनों को कारणता है। इन्हीं तीनों की कारणता का क्रमशः दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

७–सहजरूप से उपलब्ध सच्चिदानन्दब्रह्म—

'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' आभाणक को चरितार्थ करने वाले वर्त्तमान युग के वेदान्तभक्त **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** का उद्घोष करते हुए अपने आपको ब्रह्मतत्त्ववेत्ता मानने का अतिमान कर रहे हैं। जिज्ञासुवर्ग के प्रश्न करने पर कि, भगवन्! उस व्यापक ब्रह्म का क्या स्वरूप है?, उत्तर मिलता है-**'नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**-**'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'**। तात्पर्य्य–सब कुछ ब्रह्म है, वह ब्रह्म व्यापक है, नित्य है, सच्चिदानन्दघन है। यह सत्-चित्-आनन्द-क्या है?, बस इस प्रश्न पर वेदान्ती की प्रखर प्रतिभा कहाँ और क्यों पलायित हो जाती है?, प्रश्न का समाधान वे वेदान्ती ही कर सकेंगे। जिस भौतिक-दृश्य-अनुभूत विश्व के आधार पर ब्रह्म का बोध सुगमता से सम्भव है, वह तो वेदान्ती के द्वारा असत्य-मिथ्या-मायामय घोषित कर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि, सच्चिदानन्दस्वरूप का जिज्ञासु इस शब्द का कोई भी तत्त्वार्थ न समझ कर अन्धकार में टटोलता सा अपनी प्रज्ञा का दुरुपयोग करता मुँहबाए सा स्तब्ध बना रह जाता है। अन्त में यह कह कर कि, वह सर्वथा अचिन्त्य है, विश्वातीत है, परोक्ष है, अविज्ञेय है, वह अकर्मण्य बना रह जाता है। क्या यही वेदान्तनिष्ठा 'वेदान्तनिष्ठा' है?। क्या इसी कल्पित निष्ठा के बल पर सुख-शान्ति निर्भर है?, नेति होवाच। जगन्मिथ्यात्ववादी वेदान्तनिष्ठोंनें जिस सच्चिदानन्द को जहाँ ऐसा दुरधिगम्य बना दिया है, वहाँ एक वैज्ञानिक सर्वत्र सत्यब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ प्रत्यक्षवत् स्वयमपि ब्रह्म के दर्शन कर रहा है, और तत्त्वजिज्ञासु को भी दर्शन करा सकता है। सच्चिदानन्द की प्रत्यक्षदृष्टि के लिए न तो दुर्बोध्य वेदान्तग्रन्थों के स्वाध्याय ही अपेक्षा है, एवं न उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित तत्त्वदर्शी विद्वान् मात्र ही इस बोध के अनन्याधिकारी हैं, अपितु आबालवृद्ध-वनिता, आपामर-विद्वज्जन, सब के लिए वह 'समब्रह्म' समरूप से अहोरात्र प्रत्यक्ष का विषय बन रहा है। केवल थोड़े दृष्टि के आकर्षण में विलम्ब है। दृष्टिदोष के कारण हम उसे सतत देखते हुए भी नहीं देख रहे–**'पश्यन्नपि न पश्यति'**। नामरूपकर्म्मासक्ति ने हमारा दृष्टिकोण उस ओर से परावर्त्तित कर रक्खा है। उस परावर्त्तित दृष्टिकोण को पुनरावर्त्तित करने मात्र से ही प्रत्यक्षरूपेण स्वतःसिद्ध सच्चिदानन्दब्रह्म इसी नामरूपकर्म्मात्मक भौतिक प्रपंञ्च में उपलब्ध हो जाता है।

८–सच्चिदानन्दब्रह्म का सर्वानुभूत 'सत्' पर्व—

'सच्चिदानन्द' शब्द के **'सत्-चित्-आनन्द'** ये तीन पर्व सब के लिए विज्ञात हैं। तीनों में से सर्वप्रथम 'सत्' पर्व को ही लक्ष्य बनाइए। एक सद्गृहस्थी स्नानादि नित्य कर्म्मों से निवृत्त होकर प्रथमे-

पास्य के माध्यम से परमोपास्य की उपासना आरम्भ करता है। संस्कारी बालक भी कुतूहलवश उपासक पिता के समीप एक ओर बैठ जाता है। भगवत्प्रतिमारूप प्रथमोपास्य पर होने वाले पिता के प्रतिमास्नान, गन्धानुलेपन, पुष्पधारण, धूप, दीप नैवेद्य, आदि उपासनोपचारों को बालक देखता जाता है, और मध्य मध्य में प्रश्न करता जाता है-पिताजी! यह क्या है?, यह क्या है? । पिता उत्तर देते जाते हैं-सोम्य! ये भगवान् हैं, अब इनका पूजन होगा। ये पुष्प हैं, यह नैवेद्य है। बालक इन उत्तरों से सन्तुष्ट होता जाता है। इस सन्तुष्टि का कारण है एकमात्र नामरूपकर्म्मानुगत 'अस्ति' तत्त्व। 'भगवान् हैं-पुष्प हैं-नैवेद्य है' इन वाक्यों में प्रतिमारूप भगवान्, पुष्प, नैवेद्य, सब माध्यम नामरूपकर्ममय हैं, एवं सबके साथ सम्बद्ध 'है' तत्त्व ही अस्तित्त्व है। नामरूपकर्म्मानुगत अस्तित्त्व के ही नाम 'भगवान् हैं-पुष्प है-नैवेद्य है' ये वाक्य हैं। सर्वथा अबोध भी बालक इसरूप से अस्ति का परिचय प्राप्त कर रहा है। यह 'अस्ति' ही सत् है, सत् ही सत्ता है, यही प्रतिष्ठातत्त्व है, जिसके तात्त्विकों नें **'सत्ता, धृति, विधृति'** ये तीन पर्व माने हैं। तीनों एक ही सत्तातत्त्व के अवान्तर तीन विवर्त्त हैं। अतः तीनों का एक 'सत्ता' रूप से ही, 'अस्तित्त्व' रूप से ही संग्रह कर लिया जाता है।

९-सत्ता, धृति, विधृति, नामक सत्ताब्रह्म के तीन विवर्त्त—

आत्मप्रतिष्ठा सत्ता है, स्वप्रतिष्ठा धृति है, एवं परप्रतिष्ठा विधृति है। पार्थिवप्रजा भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित है। भूप्रतिष्ठा को छोड़ कर अस्मदादि प्राणी अन्तरिक्ष में निरावलम्ब नहीं ठहर सकते। पृथिवी की प्रतिष्ठा ने हीं पार्थिव प्रजा का विधरण कर रक्खा है। पार्थिव प्राणियों में प्रविष्ट पार्थिवप्रतिष्ठा ही परसत्ता (अन्य-भूपिण्ड से आगत-सत्ता), किंवा परप्रतिष्ठा है। यही 'विधृति' नामक प्रतिष्ठातत्त्व है। **'गृहा वै प्रतिष्ठाः'** से यही विधृतिप्रतिष्ठा गृहीत है। मञ्जूषा वस्त्रों की, शरीर अलङ्कारों की, मसीपात्र मसीद्रव्य (श्याही) की, मेज पुस्तक की प्रतिष्ठा है। ये सब परप्रतिष्ठा के उदाहरण हैं। परप्रतिष्ठा के निकल जाने से पतन का भय अवश्य है, परन्तु वस्तुस्वरूप का विनाश नहीं है। पार्थिव प्रजा की अपनी भी एक स्वतन्त्र सत्ता है। जब तक वह स्वतन्त्र सत्ता है, तभी तक इनका स्वतन्त्र व्यक्तित्त्व है। इस सत्ता के निकल जाने पर व्यक्ति के नाम-रूप-कर्म्म का ही उच्छेद हो जाता है। यही स्वतन्त्रसत्ता व्यक्ति के जीवन की प्रतिष्ठा है। 'पुस्तक है, मनुष्य है, घट है, पट है, इस रूप से पृथगात्मतारूपेण जो अस्तित्व व्यवहार (सत्ताव्यवहार) होता है, वही स्वसत्तात्मिका स्वप्रतिष्ठा है। इसी के आधार पर वस्तुस्वरूप (नामरूपकर्म्म) धृत है, अतएव इसे 'धृति' नाम से व्यवहृत किया गया है। परसत्तात्मिका विधृति, स्वसत्तात्मिका धृति, दोनों व्यक्तितन्त्र से सम्बन्ध रखतीं हुईं सोपाधिक हैं, परिच्छिन्न हैं। परन्तु एक सत्ता ऐसी भी है, जो समानरूप से, एकरसरूप से भाव-अभाव, सत्-असत्-मूर्त्त-अमूर्त्त-निरुक्त-अनिरुक्त सब में व्याप्त रहती हुई सर्वाधार बनी हुई है। सर्वव्यापक-आत्मा सत्तारूप से सर्वत्र व्याप्त है। यही दार्शनिकों का परमसामान्य है। यही आत्मप्रतिष्ठात्मिका आत्मसत्ता है। इसकी उद्बुद्धावस्था ही विश्व है, उन्मुग्धावस्था ही महाप्रलय है। **'भूपृष्ठ पर पुरुष प्रतिष्ठित है'** इस वाक्य में परप्रतिष्ठा, और स्वप्रतिष्ठा दोनों का समन्वय है। भूपृष्ठप्रतिष्ठा परप्रतिष्ठा है, स्वयं पुरुष स्वप्रतिष्ठात्मक है, यही भावप्रतिष्ठा है। पुरुष नहीं रहा। अतएव पुरुषावच्छिन्ना परप्रतिष्ठा भी नहीं रही, स्वप्रतिष्ठा भी नहीं रही। परन्तु व्यापक आत्मप्रतिष्ठा अब भी विद्यमान है, जिसका व्यक्तितन्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। अतएव **'पुरुष है'** इस भावात्मक व्यवहार की भाँति-**'पुरुष नहीं है'** इस अभावात्मक

व्यवहार में भी अस्तित्व प्रतिष्ठित है। घटात्मिका स्वसत्ता घट में ही है। परन्तु व्यापक आत्मसत्ता का जिस रूप से भावात्मक घट पर अनुग्रह था, उसी रूप से अभावात्मक घट पर भी अनुग्रह हो रहा है। 'घटोऽस्ति' में जैसे 'अस्ति' है, तथैव 'घटो नास्ति' में भी अस्तित्व अक्षुण्ण है। घटोऽस्ति में वही सत्ता घटभाव की अनुग्राहिका है। 'घटो नास्ति' में वही घटाभाव की अनुग्राहिका है। जैसे सामान्यसत्ता अस्तित्व में है, नास्तित्व में भी वह अक्षुण्ण है। एक स्थान पर **'है'** ने घट को पकड़ रक्खा है, अतएव **'घट है'** यह व्यवहार होता है। एक स्थान पर **'है'** ने नहीं को पकड़ रक्खा है, अतएव **'नहीं-है'** व्यवहार होता है। भावाभाव भले ही बदलते रहें, अस्तित्व नहीं बदलता। नाम-रूप कर्म्म बदलते हैं, व्यापक सत्ता नहीं बदलती। समस्त विश्वप्रपञ्च में एक भी उदाहरण ऐसा उपस्थित नहीं किया जा सकता, जहाँ इस सामान्य-सत्तात्मिका आत्मप्रतिष्ठा का सम्बन्ध न हो। सामान्यसत्तारूप से यह ब्रह्म तत्त्वतः सर्वव्यापक बन रहा है, जैसाकि अनुपद में ही स्पष्ट होने वाला है। वक्तव्य यही है कि, आत्मसत्ता, स्वसत्ता, परसत्ता, भेद से सत्तातत्त्व तीन भावों में परिणत हो रहा है। तीनों में आत्मसत्ता निरुपाधिक व्यापक सत्तातत्त्व है। पर-स्वसत्ता, दोनों विवर्त्त सोपाधिक व्याप्य सत्तातत्त्व हैं। उपाधिसम्बन्ध को पृथक् करके जब आप इन दोनों पर दृष्टि डालेंगे, तो केवल निरुपाधिक सत्ता ही शेष रह जायगी।

१०—ज्ञानपूर्विकासत्ता-त्मक दृष्टिकोण—

निरुपाधिक सत्ता के ही सोपाधिकरूप स्वसत्तात्मक भावों का बालक को बोध हो रहा है। उपाधि के साथ ही सही, 'अस्ति' तत्त्व का प्रत्यय अस्तित्वेन अक्षुण्ण है। यही 'सत्' रूप प्रथम पर्व के साक्षात्-दर्शन हैं। "यह सूर्य्य है, यह पृथिवी है, यह चन्द्रमा है, यह प्राणी है," इत्यादिरूप से सभी को अस्ति का भान हो रहा है। क्या कोई कह सकता है कि, 'अस्ति' का मुझे बोध नहीं। यदि बोध है, तो कह सकते हैं कि, 'सच्चिदानन्द' ब्रह्म का 'सत्' पर्व किसी के लिए भी परोक्ष नहीं है। यों कहिए कि, एक तृतीयांश ब्रह्म के स्वरूपबोध से अपने आपको कोई पृथक् नहीं कर सकता। अब शेष रहे—चित्, और आनन्द नामक दो विवर्त्त।

जिस प्रकार 'सत्' से अस्तिलक्षण 'सत्ता' अभिप्रेत है, एवमेव 'चित्' से चेतनालक्षण 'ज्ञान' अभिप्रेत है। ज्ञान ही चेतना है। अस्तित्व का ज्ञान ही चेतना है। केवल अस्ति तब तक अस्तिस्वरूप से उन्मुग्ध है, जब तक कि उसका हमें ज्ञान न हो जाय। ज्ञान से ही अस्ति का अस्तित्व प्रकाशित होता है। वैज्ञानिक पर्षत् में यह प्रश्न भी बड़ा महत्त्व रखता है कि—**'अस्ति' अतो ज्ञायते, किंवा ज्ञायते, अतः—अस्ति ?'**। वस्तु है, इसलिए हम उसे जानते हैं, अथवा जानते हैं, इसलिए वस्तु है ?। तात्पर्य्य प्रश्न का यही है कि, 'सत्तापूर्वकं ज्ञानम्, आहोस्वित्—ज्ञानपूर्विका सत्ता ?'। प्रश्न इसलिए उठा कि, जब तक पुरोऽवस्थित नामरूप कर्म्मात्मक पदार्थ के अस्तित्व का हमें ज्ञानात्मक भान (प्रत्यय—उपलब्धि) नहीं हो जाता, दूसरे शब्दों में वह अस्तिमान् पदार्थ जब तक हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट नहीं हो जाता, तब तक **'अमुकः—पदार्थोऽस्ति'** ये शब्द हमारे मुख से नहीं निकलते। अन्धकार में, अथवा तो भित्ति के आवरण के उस ओर भले ही घट-पटादि पदार्थ विद्यमान रहें, परन्तु जब तक प्रकाश के द्वारा, अथवा तो भित्तिआवरण—निराकरण द्वारा वे विद्यमान पदार्थ हमारे ज्ञान में नहीं आ जाते, तबतक हम उन पदार्थों के सम्बन्ध में कदापि—'घटोऽस्ति—पटोऽस्ति' इत्यादि वाक्यों का प्रयोग नहीं कर सकते। हम उन पदार्थों को जान कर ही अस्तिरूप

से उनका अभिनय करते हैं। इस दृष्टिकोण के आधार पर कहा जा सकता है कि-'ज्ञानपूर्विकासत्ता' ही सिद्धान्त है। 'ज्ञायते-अतः-अस्ति, न ज्ञायते-अतो नास्ति' ही तत्त्वदृष्टि प्रतीत हो रही है।

११-सत्तापूर्वकज्ञानात्मक दृष्टिकोण—

क्या उक्त प्रतीति का समर्थन किया जा सकेगा ?, क्या हमारे (जीवात्मा) ज्ञान के आधार पर ही वस्तुओं की सत्ता प्रतिष्ठित है ?। अनुभव कहता है-ऐसा तो नहीं है। 'न ज्ञायते, अतो नास्ति' कहना तो साहस है। जब कि, ईश्वरसत्ता का ज्ञान न होने पर भी ईश्वरसत्ता का अपलाप नहीं किया जा सकता। हम नहीं जानते, एतावता ही सत्तासिद्ध पदार्थों के अस्तित्त्व का अभाव कैसे माना जासकता है। यदि सत्तात्मक घट पदार्थ केवल हमारे ज्ञान से ही सत्तात्मक है, तब तो इच्छामात्र से हम जिस किसी भी प्रदेश में घट के न रहने पर भी घटज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। ज्ञानात्मिका इच्छा-मात्र से घटज्ञान हो जाना चाहिए। परन्तु देखते हैं, बिना सत्तासिद्ध पदार्थों के घटादि पदार्थों का ज्ञान नहीं होसकता। मानना पड़ेगा कि, अस्तित्त्व ही तद्विषयक ज्ञान का जनक है। पदार्थ हैं, इसलिए उनका हमें ज्ञान होता है। 'अस्ति-अतो ज्ञायते, नास्ति चेत्, न ज्ञायते, नोलपलभ्यते' यही सिद्धान्तपक्ष प्रतीत होता है। 'सत्तापूर्वकज्ञान' ही तत्त्वदृष्टि प्रतीत हो रही है।

१२-उभय दृष्टिकोणों का तात्त्विक समन्वय—

दोनों हीं सिद्धान्त अनुभव-तर्क-दृष्टि से प्रमाणित हैं। कैसे दोनों का निर्विरोध समन्वय किया जाय ?। वैज्ञानिक उत्तर देते हैं-अन्तर्जगत् की दृष्टि से प्रथम तत्त्वदृष्टि का समन्वय हो रहा है, बहिर्जगत् की दृष्टि से द्वितीय तत्त्वदृष्टि का समन्वय हो रहा है। पाञ्चभौतिक महाविश्व हमारे ज्ञान के लिए बहिर्जगत् है। यही ईश्वरीय जगत् है। ईश्वरीय ज्ञान से विनिर्म्मित सत्तासिद्ध ईश्वरीय ज्ञानमय जगत् वास्तव में जीव के लिए बहिर्जगत् है। सत्तासिद्ध यह ईश्वरीय जगत् ज्ञानपूर्वक है। यहाँ ज्ञान आधार है, सत्तासिद्ध बहिर्जगत् आधेय है। इस सत्तासिद्ध जगत् की दृष्टि से कहा जासकता है कि, है, इसलिए हम जानते हैं। बहिर्जगत् स्पृश्यमात्र है, दृश्य नहीं। हम जो कुछ देखते हैं, जानते हैं, वह हमारे ज्ञान में प्रविष्ट ज्ञानमय वस्तुभाव है, यही हमारा अन्तर्जगत् है। सत्तासिद्ध पदार्थ के आधार पर सत्तात्मक जिस पदार्थ का ज्ञान हमारे ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट हो जाता है, वह ज्ञानात्मिका सत्ता ही हमारा अन्तर्जगत् है। और अवश्य ही यह अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से अभिन्न है, ज्ञान से उपकल्पित है। निष्कर्ष यही निकला कि-हमें जिन सत्तासिद्ध पदार्थों की 'जानामि-ज्ञायते-ज्ञातम्' रूप से प्रतीति होती है, वे सब प्रतीत ज्ञात-उपलब्ध पदार्थ अन्तर्जगत् है। इसका निर्म्माण हमारे ज्ञान से हुआ है। जब तक हम हैं, तब तक हमारा ज्ञानीय जगत् है। इस दृष्टि से 'ज्ञायते-अतोऽस्ति' सर्वात्मना समन्वित है। हमारे ज्ञानीय अन्तर्जगत् का निर्म्माण हुआ है-ईश्वरीय ज्ञानीय जगद्रूप (जोकि ईश्वरदृष्ट्या ईश्वर का अन्तर्जगत् है) बहिर्जगत् के आधार पर। स्पृश्य बहिर्जगत् सत्तासिद्ध है। इसके आधार पर हमारे दृश्य अन्तर्जगत् (दृश्यसत्ता) का निर्म्माण हुआ है। एवं इस दृष्टि से 'अस्ति-अतो ज्ञायते' यह दृष्टिकोण सर्वात्मना समन्वित है। स्वजगत्सत्ता ज्ञाननिघ्ना है, ज्ञाननिघ्ना स्वजगत्सत्ता बहिःसत्तानिघ्ना है, यही निष्कर्ष है।

१३-समन्वयमूलक-'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' सिद्धान्त—

इस से एक नवीन सिद्धान्त और निकल आया, जो सिद्धान्त विज्ञानभाषा में-'प्रत्ययैकसत्योपनिषत्' नाम से व्यवहृत हुआ है। हमारा अन्तर्जगत् हमारे ज्ञान से निर्म्मित होता हुआ जैसे ज्ञानमय है, एवमेव ईश्वरीय

जगत् ईश्वरीय ज्ञान से निर्म्मित होता हुआ ईश्वरीय ज्ञानमय है। हमारा अन्तर्जगत् जैसे हमारे ज्ञान से उपकल्पित है, एवमेव हमारी दृष्टि से बहिर्जगत्, किन्तु ईश्वरीय दृष्टि से अन्तर्जगद्रूप सत्तासिद्ध महाविश्व ईश्वर के ज्ञान से उपकल्पित है। ईश्वरज्ञान ही महाविश्वरूप सत्ताभाव में परिणित हो रहा है। और इस नवीन सिद्धान्त की दृष्टि से 'ज्ञानपूर्विकासत्ता' यह प्रथम सिद्धान्त ही प्रधान बन जाता है। अस्तित्व का अपलाप नहीं है, अपितु अस्ति, और ज्ञान का अभेद है। 'ईश्वरीयज्ञानमस्ति', के अनुसार ईश्वरीय ज्ञान सत्तात्मक है। तभी तो तद्रूप जगत् के लिए 'जगदस्ति' यह व्यवहार होता है। जगत् उसी ज्ञानात्मिका सत्ता का ग्राह्यरूप है। ईश्वरीय ज्ञान उसी सत्ता का ग्रहीतृरूप है। ग्रहीता ज्ञान, ग्राह्यसत्ता, तत्त्वतः-दोनों अभिन्न हैं, एक हैं। ज्ञायते ही अस्तित्व है, अस्तित्व ही ज्ञायते है।

१४–सच्चिदानन्दब्रह्म का सर्वानुभूत 'चित्' पर्व—

प्रकृतमनुसरामः। बतलाया गया है कि, जीवविवर्त्त की दृष्टि से अस्ति के अस्तित्व का विकास ज्ञान पर ही अवलम्बित है। 'अस्ति' का उच्चारण ही मुख से तब सम्भव है, जब कि वह अस्ति ज्ञानमण्डल में प्रविष्ट हो जाती है। 'घटोऽस्ति' यह वाक्य ज्ञानीय घटसत्ता का ही अभिनय कर रहा है। उपासक पिता के समीप बैठा हुआ बालक 'यह भगवान् है' इस सत्तात्मक वाक्य श्रवण से 'अस्ति' को उपलब्ध कर रहा है। उपलब्धि ही ज्ञान है, सत्तोपलब्धि ही ज्ञान है, यही चित्, किंवा चेतना है। इसप्रकार 'अस्ति भगवान्, तच्च जानाति बालकः' रूप से सत्ता के साथ साथ ही बालक चेतना-बोध का भी अनुभव कर रहा है। बालक ही क्या, सभी तो इस उपलब्धि (ज्ञान) के अनुगामी बने हुए है। सभी अपने मुख से 'अयमस्ति-इयमस्ति-इदमस्ति' व्यवहार करते हुए सत्तोपलब्धि (सत्ता के ज्ञान) के अनुगामी बन रहे हैं।

१५–आत्मज्ञान–स्वज्ञान–परज्ञान–नामक चिद्ब्रह्म के तीन विवर्त्त—

जिस प्रकार सत्तातत्त्व आत्मसत्ता, स्वसत्ता, परसत्ता (सत्ता, धृति, विधृति) रूप से तीन विवर्त्तभावों में परिणत रहता है, एवमेव इस चेतना-तत्त्व (ज्ञान) के भी आत्मज्ञान, स्वज्ञान, परज्ञान, भेद से तीन हीं विवर्त्त मानें गए हैं। हम जो कुछ जानते हैं, वह सब 'परज्ञान' है, आगन्तुक ज्ञान है। वैषयिक-सांसारिक ज्ञान बहिर्जगत् के सत्तासिद्ध बाह्य विषयों के आधार से उत्पन्न हुआ है। बाह्य विषयों के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होता है। इनसे भावनात्मक ज्ञानीय संस्कार उत्पन्न हो जाते हैं। वे ज्ञानीय संस्कारपुञ्ज ही लोक में 'अनुभव' नाम से व्यवहृत हुए हैं। जिसका जितना अधिक लोकविषयों से सम्पर्क रहेगा, उसका आत्मा उतनें ही अधिक भावनासंस्कारों से युक्त रहेगा। साथ ही वह मानवसमाज में उतना हीं बड़ा अनुभवी कहलाएगा। अनुभवी मनुष्य ही संस्कारी जीव कहलाया है। जिस प्रकार विषयदर्शनरूप विषयसम्पर्क से संस्कार उत्पन्न होते हैं, एवमेव विषयश्रवण (शब्दश्रवण) से भी संस्कार उत्पन्न होते हैं। गौपशु को देखने से भी ज्ञान गौरूप संस्कार से युक्त हो जाता है, 'गौ' शब्द श्रवण से भी गौरूप संस्कार आत्मा में खचित हो जाता है। तात्पर्य, सांस्कारिक विषय शब्द, अर्थ, भेद से दो भागों में विभक्त हैं। एवं दोनों का औत्पत्तिक-लक्षण तादात्म्यसम्बन्ध है *। अतएव अर्थदर्शन से जैसे तद्रूप विषयसंस्कार आहित हो जाता है, एवमेव

---

* इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड में द्रष्टव्य है।

तद्वाचक शब्दश्रवण से भी तद्वाच्य विषयाकार उपस्थित हो जाता है। अर्थरूप विषय के आगमन से, सम्पर्क से ज्ञान तदाकाराकारित हो जाता है, यही तात्कालिक विषयज्ञान 'ब्रह्म' कहलाया है। एवमेव--शब्दजनित शब्दावच्छिन्न तात्कालिक ज्ञान 'वेद' कहलाया है। ब्रह्मज्ञान, वेदज्ञान, (अर्थज्ञान, शब्दज्ञान) दोनों पार्ष्टिशामचर्वणा से कालान्तर में यदि प्रज्ञानमन में खचित हो जाते हैं, तो वही दृढ़ ज्ञान 'संस्कारज्ञान' कहलाने लगता है। यही संस्कारावच्छिन्न ज्ञान **'विद्या'** ÷ कहलाया है। इसप्रकार बाह्य विषयसंसर्ग से उत्पन्न होनें वाले आगन्तुक परज्ञान के **ब्रह्म, वेद, विद्या,** तीन विवर्त्त हो जाते हैं। त्रिविध भावापन्न यह विषयज्ञान परसत्तात्मिका विधृति की भाँति आगन्तुक, अतएव परिवर्तनशील है। संस्कारज्ञान विषयसम्पर्क के तारतम्य से अवश्य ही बदलता रहता है। संस्कारज्ञान का जीवात्मस्वरूप से कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी के तारतम्य से मूर्ख-बुद्धिमान्-ब्राह्मण, क्षत्रिय-वैश्य-आदि भेदवाद व्यवस्थित हुए हैं।

दूसरा है—स्वज्ञान। जिस ज्ञान के आधार पर बाह्यज्ञान (परज्ञान) प्रतिष्ठित होते हैं, वही स्वज्ञान है, यही उस व्यक्ति की मूल प्रतिष्ठा है, जीवनसाधक है। **'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्'** के अनुसार इस स्वज्ञान से ही इतर खण्डज्ञान भासित हैं। प्रति व्यक्ति का यह स्वज्ञान उसका अपना ज्ञान है। इसी के द्वारा वह जानता है। पक्षी का ज्ञान पृथक् है, पशु का ज्ञान पृथक् है, मनुष्य का ज्ञान पृथक् है। अपने अपने क्षेत्र के स्वरूप के अनुसार क्षेत्रज्ञरूप यह स्वज्ञान विभिन्नधर्म्मा है। यह भेदक ज्ञान जबतक है, तबतक ही व्यक्तिप्रतिष्ठा है। अतएव इसे धृतिलक्षण स्वसत्ता से समतुलित माना जा सकता है। इन दोनों ज्ञानों से अतिरिक्त तीसरा निरुपाधिक-निर्विकल्पक व्यापक ज्ञान ही आत्मज्ञान है, जिसका साक्षी चिद्ज्ञानाधारभूत महानात्मा माना गया है। यही तीसरा निरुपाधिक ज्ञान सामान्यसत्ता से समतुलित रहता हुआ सामान्यज्ञान है, यही अखण्ड-अद्वय-ज्ञान है। वही खण्डात्मक जीवसंस्था का आधार बनता हुआ 'स्वज्ञान' है, विषयाधार बनता हुआ परज्ञान है। परज्ञान प्रज्ञानानुमोदित (मनोऽनुगत) है, स्वज्ञान विज्ञानानुमोदित (बुद्ध्यनुगत) है, एवं आत्म-ज्ञान महदात्मानुमोदित (स्वानुगत) है। इसप्रकार सत्तावत् चेतनालक्षण ज्ञान के भी तीन हीं विवर्त्त हो जाते हैं। निरुपाधिक ज्ञान के ही सोपाधिक ज्ञानभाव का बालक को सोपाधिक सत्ताद्वारा बोध हो रहा है। उपाधि का सम्बन्ध भले ही रहे, चित् (ज्ञान) का प्रत्यय, किंवा चिद्रूप प्रत्यय चिद्भावत्वेन अक्षुण्ण है। एवं यही 'चित्' रूप द्वितीय पर्व के साक्षात् दर्शन हैं।

सूर्यादि जो सत्तासिद्ध पदार्थ हैं उनको हम जानते है, इत्यादिरूप से सभी को अस्ति की उपलब्धिरूप ज्ञान हो रहा है। उपलब्धिरूप ज्ञान के रहते भी क्या कोई यह कह सकता है कि, मुझे 'चित्' का परिज्ञान नहीं। अवश्य ही परिज्ञान है। परिज्ञानात्मिका उपलब्धि ही तो अस्तिभाव की प्रयोजिका है। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है कि, सच्चिदानन्दब्रह्म का चित् पर्व भी सत्पर्ववत् सबके लिए प्रत्यक्ष है। यही चित्पर्व की सर्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है।

१६—रसोपलब्धिमूलक आनन्दपर्व—

अब शेष रह जाता है—सर्वमूलभूत तीसरा आनन्दपर्व। आनन्दानुभवरूप आनन्द-प्रत्यक्ष का विश्लेषण इसलिए अनावश्यक है कि, शान्ति-समृद्धिरूप से सभी को इसका प्रत्यक्ष हो रहा है। जिस तत्त्व

÷ इन तीनों सांस्कारिक ज्ञानों का विश्लेषण भक्तिपरीक्षा-उत्तरखण्ड के दशमहाविद्या-प्रकरण में किया जा चुका है।

की सत्ता है, जिस सत्तासिद्ध तत्त्व का हमें ज्ञान होता है, सत्ता–ज्ञानानुगत सर्वाधारभूत वही तत्त्व 'आनन्द' है। जो है, जिसका ज्ञान है, वही आनन्द है। प्रश्न होता है–'क्या है ?'। उत्तर मिलता है–'पुस्तक है'। प्रश्न होता है-किसका ज्ञान ?, उत्तर मिलता है-'पुस्तक का ज्ञान'। यह प्रश्नोत्तर-व्यवहार सिद्ध कर रहा है कि, जो है, एवं जिसका ज्ञान है, वही तीसरा विलक्षण तत्त्व 'है' (अस्ति) और जानना (चित्) दोनों में रसन करता हुआ 'रस' नाम से प्रसिद्ध है। यह रस ही आनन्द है। केवल अस्ति से भी तृप्तिरूप आनन्द की प्राप्ति असम्भव है। केवल ज्ञान से भी आनन्दोद्रेक असम्भव है। जिसकी सत्ता है, जिसका ज्ञान है, उस रसतत्त्व की प्राप्ति में ही आनन्द है। हम जानते हैं कि, राज्यकोष में अतुल सम्पत्ति प्रतिष्ठित है। सम्पत्ति की सत्ता भी है, उसका हमें ज्ञान भी है, परन्तु जिस रसात्मिका सम्पत्ति की सत्ता है, जिसका ज्ञान है, जब तक वह हमें मिल नहीं जाती, तब तक आनन्द नहीं आता। इसी आधार पर–'रसो ह्येव सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (उपनिषत्) यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित हुआ है।

१७–आत्मानन्द-स्वानन्द-परानन्द-नामक आनन्दब्रह्म के तीन विवर्त्त—

सत्–चित्–पर्वों की भाँति इस तीसरे आनन्दपर्व के भी **आत्मानन्द, स्वानन्द, परानन्द,** भेद से तीन ही विवर्त्त मानें जायँगे। आत्मानन्द, भूमानन्द है, निःसीम आनन्द है। स्वानन्द, परानन्द, सीमानन्द हैं। सुस्वादु भोजन, सुगन्धित द्रव्य, सुस्वर सङ्गीत, अन्यान्य भोग्य परिग्रह, आदि लौकिक विषयों के संसर्ग से जो ऐन्द्रियक क्षणिक सुखोपलब्धि हुआ करती है, वही परानन्द है, आगन्तुक आनन्द है। अतएव अस्थायी आनन्द है। विषय के साथ इस आनन्द का आगमन होता है। अतएव जबतक विषयसंस्कारचर्वणा बनी रहती है, तभी तक विषयानन्द की प्राप्ति होती है। विषयविनिवृत्ति के साथ विषयानुगत यह रस (विषयानन्द) भी निवृत्त हो जाता है *। इसीलिए इस विषयानन्द को परिणामतः दुःखप्रवर्त्तक ही माना गया है। कुछ भी हो, विषयानन्द में जो 'आनन्द' का अंश है, वह तो स्वस्वरूप से आनन्द ही है, एवं यह भी आनन्दत्वेन उस आत्मानन्द से अभिन्न ही है, अतएव ब्रह्मस्वरूप में अवश्य ही संग्राह्य है।

१८–आनन्दस्वरूपमीमांसा—

आनन्दस्वरूपविश्लेषण के लिए हमें आनन्द की विशेष मीमांसा करनी पड़ेगी। समृद्धयर्थक **'नद'** धातु (टुनदि समृद्धौ) से 'आनन्द' शब्द निष्पन्न हुआ है। समृद्धि उसी तत्त्व का नाम है, जो पूर्व परिग्रह को तो अक्षुण्ण बनाए रहे, एवं अन्य परिग्रह का सञ्चय करती रहे। यदि आय से व्यय अधिक है, तो + व्यृद्धि (समृद्धयभाव) है। यदि आय-व्यय समतुलित हैं, तो योगक्षेमात्मक निर्वाह है। यदि व्यय से आय अधिक है, तो समृद्धि है। पूर्वकोषरक्षापूर्वक अन्य कोषागमन ही समृद्धि है। आनन्द का स्वरूप इस समृद्धिभाव से मिलता जुलता है, अतएव इसे 'आनन्द' कहना अन्वर्थ बनता है। केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रसतत्त्व अर्करूप से उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है। अपने स्थान (हृदय) में प्रतिष्ठित रहता हुआ आगे चलता है, यही

---

* विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥ गी० २।५९।

\+ 'व्यृद्धि-यह' वैदिक शब्द है, जो सम्पत्ति के अभाव में प्रयुक्त होता है।

इसका समृद्धिभाव है। वैज्ञानिकों नें आनन्द शब्द का यही निर्वचन किया है। विषयप्रदेशपर्य्यन्त आनन्द का रश्मिरूप से अनुधावन होता है। परन्तु उक्थरूप से वह स्वप्रदेश (हृदय) में हीं प्रतिष्ठित रहता है। अन्य-प्रदेशानुधावन के द्वारा वही सम्पूर्ण सृष्टियों का स्रष्टा बनता है +, परन्तु स्वस्वरूप से अक्षुण्ण बना रहता है। यही आनन्द का आनन्दत्त्व है, यही वास्तविक आनन्द है। प्रकृतिविरुद्ध मद्यपान–स्तेयकर्म्म–हिंसाकर्म्म–आदि लौकिक विषयों में मूलप्रतिष्ठा का सम्बन्ध नहीं रहता। नाहीं ऐसे विषयानन्द स्रष्टा ही बनते, अपितु मूलप्रतिष्ठा (हृत्प्रतिष्ठा) के उच्छेदक ही बनते हैं, अतः ऐसे विषय आनन्दमर्य्यादा से सर्वथा बहिष्कृत रहते हुए दुःखरूप हीं मानें गए हैं।

मूलप्रदेश से अन्य प्रदेश पर्य्यन्त आनन्द अनुधावन करता है, इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में मूलप्रदेश, और अन्यप्रदेश विजिज्ञास्य हैं। समाधान कर लीजिए आध्यात्मिक दृष्टिकोण से। स्वायम्भुव पर–माकाश के गर्भ में प्रतिष्ठित सौर पुराणाकाश आध्यात्मिक शरीराकाश की प्रतिष्ठा है। शरीराकाश के गर्भ में गर्भरूप हृदयाकाश है। तत्र स्वायम्भुव परमाकाश से समतुलित दभ्राकाश है, जोकि 'दहराकाश'–'दहरपुण्ड–रीक' आदि नामों से भी व्यवहृत हुआ है। यही वह मूल प्रदेश है, जहाँ सत्यसंकल्प, भारूप, ज्योतिषांज्योतिः, आकाशात्मा, सच्चिदानन्दघनब्रह्म प्रतिष्ठित है ❋। यही ब्रह्म÷'परात्परपुरुष' कहलाया है। इस दहराकाशानुगत–तद्रूप–परात्परपुरुषब्रह्म के आगे क्रमशः ६ अन्य प्रदेश हैं, जिनमें यह मूलप्रदेशस्थ उक्थरूप ब्रह्म अर्करूप से व्याप्त होता है। पुरुष के सन्निकट सर्वप्रथम स्वायम्भुव अव्यक्तात्मप्रदेश है, जिस अव्यक्तात्मा को A. उपनिषदों

\+ यात्यन्यदेशं त्वजहत्स्वदेशं, विजायते किन्तु न हीयते तत्।
यदर्चितं स्रष्टृ, यदेति सुस्थं-तस्मात्तदानन्दपदं वदामः॥

❋–"मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्म्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" (छां० उप०३।१४।२।
–'एष म आत्माऽन्तर्हृदये अणीयान्, ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः, (छां०३।१४।३)
–"अथ यदस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः। तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं, तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्" (छां० ८।१)। 'यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः। सर्वं तदस्मिन् समाहितम्(छां०८।१।३)।

÷–यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।८।

A.–यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्, तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥(कठोपनिषत १।३।१३।)
यदा स देवो जागर्त्ति तदेदं चेष्टते जगत्।
यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति॥मनुस्मृतिः १।५३।

नें एवं स्मृतियों नें 'शान्तात्मा' नाम से भी व्यवहृत किया है । मूलस्थ आत्मानन्द (पुरुषानन्द) का प्रथम-व्याप्तिप्रदेश यही अव्यक्तात्मा है । अव्यक्त के सन्निकट पारमेष्ठ्य महानात्मप्रदेश है, जो सलिलरूप माना गया है, एवं सत्त्व का (विशुद्धबुद्धिका) प्रवर्त्तक माना गया है । मूलस्थ आत्मानन्द का अव्यक्तात्मद्वारा यही महानात्मा द्वितीय व्याप्तिप्रदेश है । महान् के सन्निकट विशुद्धसत्त्वात्मक सौर विज्ञानात्म-(बुद्धि)-प्रदेश है । महानात्मद्वारा मूलानन्द का यही विज्ञानात्मा तृतीय व्याप्तिप्रदेश है। विज्ञानात्मा के सन्निकट प्रज्ञानात्म-(सर्वेन्द्रियमन:)-प्रदेश है । विज्ञानात्मद्वारा मूलानन्द का यही प्रज्ञानात्मा चतुर्थ व्याप्तिप्रदेश है । प्रज्ञानात्मा के सन्निकट इन्द्रियवर्ग प्रदेश है । प्रज्ञानात्मा के द्वारा मूलानन्द का यही इन्द्रियवर्ग पञ्चम व्याप्तिप्रदेश है । इन्द्रियों के सन्निकट बाह्य लौकिक विषयप्रदेश है । इन्द्रियद्वारा मूलानन्द का यही विषयप्रपञ्च षष्ठ व्याप्ति-प्रदेश है । सात प्रदेशों में एक मूलप्रदेश है, ६ तूलप्रदेश हैं । मूलप्रदेश स्वप्रदेश है, तूलप्रदेशषट्क अन्य प्रदेश हैं । स्वप्रदेश में वह उक्थरूप से व्याप्त है, अन्य प्रदेशषट्क में अर्करूप से व्याप्त है । साथ ही ६ ओं अन्य प्रदेशों में व्याप्त आत्मानन्दमात्राएँ उत्तरोत्तर ह्रसीयसीं, एवं पूर्व-पूर्वप्रदेश में विकसिता हैं । इस से यह भी स्वतःसिद्ध है कि, विषयानन्दमात्रापेक्षया इन्द्रियानन्दमात्रा प्रवृद्ध है, तदपेक्षया प्रज्ञानान-न्दमात्रा, तदपेक्षया विज्ञानानन्दमात्रा, तदपेक्षया महदानन्दमात्रा, एवं तदपेक्षया अव्यक्तानन्दमात्रा प्रवृद्ध है । सर्वान्तरतम आत्मा आनन्दघन है । इसी की अर्करूप आनन्दमात्राएँ ले कर सम्पूर्ण संस्थाएँ उपजीवित हैं। निर्दिष्ट परिलेख से सातों आनन्दसंस्थाओं का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है ।

१६-मूल-तूलानन्दमात्रास्वरूपदिग्दर्शन-

लौकिक विषय अध्यात्मसंस्था का 'वित्त' माना गया हैं । यह आत्मवित्त अन्तर्वित्त, बहिर्वित्त, भेद से दो भागों में परिणत रहता है । इन्द्रियों के द्वारा जो विषय संस्काररूप से अध्यात्मजगत् की सीमा में प्रविष्ट होते हुए प्रज्ञानमन पर प्रतिष्ठित होकर आत्मा के 'अन्तर्जगत्' रूप में परिणित होजाते हैं, वे सांस्कारिक विषय (अर्थ) 'अन्तर्वित्त' कहलाए हैं । एवं जो विषय इन्द्रियद्वारा आत्मसीमा में प्रविष्ट न होकर बाहर बचे रहते हैं, बहिर्जगत्-रूप वे विषय 'बहिर्वित्त' कहलाए हैं । यह भी एक रहस्यपूर्ण विषय है कि, जिस व्यक्ति की अध्यात्मसंस्था में जन्मान्तर से जो अर्थ संस्काररूप से प्रतिष्ठित रहते हैं, वर्त्तमान जन्म में वह व्यक्ति उन अन्त-र्वित्तरूप सांस्कारिक अर्थों के अनुरूप ही बाह्य बहिर्वित्तों के भोगने में समर्थ होता है । इसी आधार पर जाति, आयु, भोग, तीनों का जन्मान्तरीय संस्कारों से सम्बन्ध माना गया है । मानव की विविध जातियाँ (योनियाँ), अल्पायु-दीर्घायु-आदि आयु, उत्तम-मध्यम-निकृष्ट-भोग, आदि सब कुछ जन्मान्तरीय संस्कारबलतारतम्य से हीं नियत रहते हैं । रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्दादि विषय संस्काररूप से जन्मतः आत्मा में प्रतिष्ठित रहते हैं । इनकी मात्रा-तारतम्य से ही बाह्य विषयभोग व्यवस्थित हैं । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, प्रत्येक व्यक्ति का भोगानुभव पृथक् पृथक् है । कितनें एक व्यक्ति ऐसे हैं-जिन्हें उत्कट गन्ध का भान नहीं होता, स्वादुरस का अनुभव नहीं होता, सुन्दर से सुन्दर सङ्गीत भी उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता, अपूर्व सौन्दर्य्य भी उनके लिए निरर्थक वस्तु बनी रहती है, खर-कोमल स्पर्श के तारतम्य का जिन्हें भेद ही प्रतीत नहीं होता । मानना पड़ेगा कि, इनमें उन बाह्य अर्थों के ग्राहक आभ्यन्तर सांस्कारिक अर्थों का विकास नहीं है । वही तिक्त पदार्थ (मरीचिका आदि) एक की आँखों में आँसू ले आती है, दूसरा उसी को बिना सीत्कार के ही खा जाता है । यह अनुभवभेद संस्का-

रभेद पर ही अवलम्बित है। बाह्य विषयभोग की मूलप्रतिष्ठा जन्मान्तरीय आभ्यन्तर अर्थ (संस्कार) ही हैं। जिसमें जिस अर्थ का अभाव है, वह तदनुगत बाह्य विषयानन्दग्रहण में असमर्थ है।

उक्त आभ्यन्तर, बाह्य अर्थ, भेद से पूर्वप्रतिपादित सप्तसंस्थाक्रम की दो अवस्थाएँ हो जातीं हैं, उसी के लिए यह वित्तमीमांसा उपस्थित हुई है। अन्तर्वित्तरूप अर्थ आत्मसीमा में प्रविष्ट हैं। अतएव इस दृष्टि से इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, मन, बुद्धि, महान्, अव्यक्त, पुरुष, यह क्रम माना जायगा। बहिर्वित्तरूप अर्थ इन्द्रियसीमा से बहिर्भूत हैं। अतः इस दृष्टि से 'अर्थ–इन्द्रिय–मन–बुद्धि–महान्–अव्यक्त–पुरुष, यह क्रम माना जायगा। श्रुति में दोनों हीं क्रमों का उल्लेख हुआ है। आध्यात्मिक दृष्टि से प्रथम क्रम प्रधान है, सामान्य तत्त्वदृष्टि से द्वितीय क्रम प्रधान है। निम्न लिखित वचन दोनों क्रमों का विभिन्न दृष्टिकोण से समर्थन कर रहे हैं

अन्तर्वित्तानुगता दृष्टिः–**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः, अर्थेभ्यश्च परं मनः ॥**
(आध्यात्मिकी) **मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥१॥**
महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः ॥
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥२॥
—कठोपनिषत् १।३।१०,११,।

बहिर्वित्तानुगता दृष्टिः–(अर्थाः, ततश्च इन्द्रियाणि)—
(तात्त्विकी) **इन्द्रियेभ्यः परं मनः, मनसः सत्त्वमुत्तमम् ॥**
सत्त्वादधि महानात्मा, महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥१॥
अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च ॥
यज्ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्त्वं च गच्छति ॥२॥
—कठो० ६।७।८,।

गीता का प्रधान लक्ष्य बुद्धियोग है। सप्तपर्वात्मक ईश्वरीय विवर्त्त के केन्द्र में बुद्धितत्त्व प्रतिष्ठित है। पुरुष, अव्यक्त, महान्, ये तीन पर्व बुद्धि के उस ओर हैं, एवं ये तीनों अमृतप्रधान हैं। मन, इन्द्रियवर्ग, अर्थ, तीन पर्व बुद्धि के इस ओर हैं, एवं ये तीनों मृत्युप्रधान हैं। मध्यस्थ बुद्धितत्त्व दोनों ओर अनुगत रहता हुआ अमृत–मृत्युमय है। अर्थ पार्थिव है, मन चान्द्र है, इन्द्रियवर्ग उभयात्मक है। बुद्धि सौरी है, महान् पारमेष्ठ्य है, अव्यक्त स्वायम्भुव है, पुरुष लोकातीत है। बुद्धि से परे के पुरुष–अव्यक्त–महान्, तीनों की समष्टि पुरुषस्वरूप में अन्तर्भूत है। महान् के साथ योग होते ही बुद्धि महद्गर्भित अव्यक्तानुगत पुरुष से युक्त हो जाती है। एकमात्र इसी दृष्टि से बुद्धियोगप्रतिपादक गीताशास्त्र ने बुद्धि से परे की उपनिषत्सम्मता तीनों संस्थाओं का समष्टिरूप से एकरूपेणैव संग्रह कर लिया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है–

इन्द्रियाणि पराण्याहु, रिन्द्रियेभ्यः परं मनः ॥
मनसस्तु परा बुद्धि, र्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥१॥

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ॥
जहि शत्रुं महाबाहो ! कामरूपं दुरासदम् ॥२॥
—गीता ३।४२,४३ ।

* मूलप्रदेशावच्छिन्नः—पुरुषात्मा	(लोकातीतः) घनानन्दः	
१-प्रथमोऽन्यप्रदेशः——अव्यक्तात्मा	(स्वायम्भुवः)	
२-द्वितीयोऽन्यप्रदेशः——महानात्मा	(पारमेष्ठ्यः)	न्दाः
३-तृतीयोऽन्यप्रदेशः——विज्ञानात्मा	(सौरः)	न
४-चतुर्थोऽन्यप्रदेशः——प्रज्ञानात्मा	(चान्द्रः)	त्रा
५-पञ्चमोऽन्यप्रदेशः——इन्द्रियाणि	(उभयात्मकानि)	मा
६-षष्ठोऽन्यप्रदेशः———अर्थाः	(पार्थिवाः)	

—सैषा मूलतूलानन्दमीमांसा

२०—'परम' आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

एक प्रासङ्गिक आनन्दमीमांसा का समन्वय और कर लीजिए। जिसका सत्त्व जितना अधिक निर्म्मल होगा, वह उतनी ही अधिक आनन्दमात्रा से युक्त रहेगा। एवं जिसका सत्त्व जितना अधिक मलिन होगा, उसकी आनन्दमात्रा उतनी ही अधिक अल्प–अल्पतर–अल्पतम होगी। यही आनन्दमात्रातारतम्यमीमांसा का दूसरा दृष्टिकोण है। अध्यात्मसंस्था में जो स्थान अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रिय, अर्थ, इन ६ पर्वों का है, अधिदैवतसंस्था में वही स्थान स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, अन्तरिक्ष, पृथिवी, इन ६ पर्वों का है। इन्द्रियपर्व का मन में अन्तर्भाव है, तो अन्तरिक्षपर्व का चन्द्रमा में अन्तर्भाव है। फलतः दोनों संस्थाओं में अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, अर्थ, एवं स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ये पाँच पाँच पर्व हीं मुख्य रह जाते हैं। पाँचों पर्वों का अधिष्ठाता पुरुषतत्त्व ही सत्त्वानन्दमूर्त्ति है। इस सत्त्वानन्द की अपरिमित परिमित, भेद से दो अवस्था मान लीजिए। स्वयं अद्वयमूर्त्ति आत्मानन्द अपरिमित आनन्द है। यही तत्त्व उपनिषदों में द्रष्टा कहलाया है। यही जीवात्मा की परमा सम्पत् है, परम लोक है, परम आनन्द है। शेष पाँचों भूत पूर्व इसी अपरिमित आनन्द की परिमित आनन्दमात्रा को लेकर ही उपजीवित हैं। सत्त्वानन्दघन इसी अद्वैतानन्द का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

"सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा गतिः, एषास्य परमा सम्पत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः। एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।३२।)।

२१—शतमात्रानुगत-खण्डानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

पृथिवी से बड़ा चान्द्र अन्तरिक्ष, इस से बृहत् सूर्य्य, सूर्य्य से बृहत् परमेष्ठी, परमेष्ठी से बृहत् स्वयम्भू। इस महत्ताबृद्धि के तारतम्य से इन पाँचों में रहने वाला परिमित आनन्द (मात्रानन्द) भी उसी तारतम्य से प्रतिष्ठित है। पञ्चपर्वात्मक विश्व सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति है। ब्रह्मस्वयम्भू सब में आहुत है, सब ब्रह्मस्वयम्भू में आहुत हैं। सम्पूर्ण प्रजाति (प्रजासृष्टि) स्वायम्भुव परमाकाशरूप अव्यक्तात्मा में प्रतिष्ठित है। वह भी सब में प्रविष्ट है। यही विश्वयज्ञ की सर्वहुत-यज्ञता है *। दशाक्षरविराट् के दशधा व्यूहन से यह यज्ञमात्रा शतसंख्या पर विश्रान्त मानी गई है। शतसंख्या यज्ञस्वरूप की संग्राहिका है, यही तात्पर्य्य है ×। अतएव पाँचों पर्वों में भुक्त मात्रानन्द के तारतम्य का विश्लेषण शतसंख्या के द्वारा ही हुआ है। 'उत्तर उत्तर एषां लोकानां ज्यायान्' (तां०-म० ब्रा० १६।१०।३) के अनुसार उत्तर-उत्तरलोक पूर्व-पूर्वलोकापेक्षया ज्यायान् ('बृहत्') है। उसी अनुपात से उत्तर-उत्तर लोकसंस्था की आनन्दमात्रा का शत-शतरूप से विस्तार है।

पृथिवी, चन्द्रमा अन्तरिक्ष, सूर्य्य, इन अवरधामों में भूतभाग का प्राधान्य है। अत्तएव 'प्रजा वै भूतानि' (शत० २।४।२।१।) के अनुसार प्रजा शब्द से इन तीनों लोकों की भूतप्रजा का ही ग्रहण किया जाता है। पार्थिवप्रजा 'मनुष्य' नाम से, चान्द्रान्तरीक्ष्य प्रजा 'पितर' नाम से, एवं सौरप्रजा 'देव' नाम से व्यवहृत हुई है÷। इन तीनों प्रजाओं का वास्तविक पिता आपोमय परमेष्ठी है। अतएव इसे 'प्रजापति' कहना अन्वर्थ बनता है !!। परमेष्ठी से ऊपर स्वयम्भू ब्रह्म है, यही सर्वलोकपितामह है। इसप्रकार पाँचों विश्वपर्वों में क्रमशः मनुष्य, पितर, देव, प्रजापति, ब्रह्म, इन पाँच विवर्त्तों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यही पञ्च विवर्त्त मात्रानन्दमीमांसा के मुख्य आधार माने गए हैं।

---

*—"ब्रह्म वै स्वयम्भु तपोऽतप्यत। तदैक्षत—न वै तपस्यानन्त्यमस्ति। हन्ताहं भूतेष्वात्मानं जुहवानि, भूतानि चात्मनीति। तत् सर्वेषु भूतेषु-आत्मानं हुत्वा भूतानि-चात्मनि सर्वेषां भूतानां श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्य्येत्। स वाऽएष सर्वमेधो दशरात्रो यज्ञक्रतुर्भवति। दशाक्षरा विराट्। विराड् कृत्स्नमन्नम्। परमो वाऽएष यज्ञक्रतूनां-यत् सर्वमेधः।" (शत० ब्रा० १३।७।१।१,२,)।

×—"शतान्यन्वहं वीयन्ते। एषा वाव यज्ञस्य मात्रा-यच्छतम्। सैव साऽविच्छिन्ना दीयते। दशतोऽन्वहं दीयन्ते। दशाक्षरा विराट्। वैराजो यज्ञः"।

—ताण्ड्यमहाब्राह्मण २०।१६।१२।

÷—"त्रयो वाव लोकाः—मनुष्यलोकः, पितृलोको, देवलोकः"। इति।

—शा० ब्र० १४।४।३।२४।

!!"आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी। ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति"। इति।

—शत० ब्रा०८।२।३।१३।

मनुष्य पार्थिव प्राणी है, पार्थिव प्रजा है। प्राज्ञ के विकास के कारण यही इतर पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा आनन्दभोक्ता है। अतः श्रुति ने पार्थिवानन्दमीमांसा में केवल मानुषानन्द का ही विश्लेषण किया है। मनुष्य के आनन्द का क्या स्वरूप ?, मनुष्य का परमानन्द क्या ?, उत्तर है पार्थिव भोगसम्पत्प्राप्ति। पार्थिवसम्पत् पुत्रैषणा, लौकैषणा, वित्तैषणा, भेद से तीन भागों में विभक्त है। प्रजासम्पत्ति, यशःसम्पत्ति, वित्तसम्पत्ति, तीनों यदि असपत्नरूप से मनुष्य को मिल जाती है, तो यही मनुष्य का परमानन्द है। अखिल-भूमण्डल का अधिपति वह सम्राट्-जो सम्पूर्ण मनुष्यों की अपेक्षा समृद्ध है, सब पर निरपेक्षरूप से शासन करता है-यच्चयावत् मानुष (पार्थिव) भोगों से सम्पन्न है, वही मानुषानन्द का अधिकारी है। यही मानुषानन्द की पराकाष्ठा है, जिसका एक भी उदाहरण वर्त्तमान युग में अनुपलब्ध है।

पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर चान्द्र-अन्तरिक्ष है। चन्द्रपिण्ड में प्रतिष्ठित सौम्यप्राण 'पितर' है। चान्द्र अन्तरिक्ष में प्रतिष्ठित सोमानुगृहीत वायव्य प्राण गन्धर्व है। इस दृष्टि से चान्द्रविवर्त्त में पितर, गन्धर्व, ये दो अवान्तर प्रजासर्ग व्यवस्थित हो रहे हैं। जिस मानुषानन्द की पूर्व में मीमांसा की गई है, उसे शतगुण कर लीजिए। ऐसे सौ मानुषानन्द मिल कर पितरों का आनन्द है। ऐसे १०० पैत्र आनन्द मिल कर एक गन्धर्वानन्द है। यही चान्द्र-आन्तरीक्ष्य आनन्द की मीमांसा है। चन्द्रमा के अनन्तर सूर्य्य है। इसकी प्रजा 'देव' नाम से प्रसिद्ध है। यह देवतत्त्व **कर्म्मदेव, आजानदेव**, भेद से दो भागों में विभक्त है। जो मनुष्य यज्ञ के द्वारा दैवात्मातिशय का स्वभूतात्मा में आधान कर लेता है, वह कर्म्मदेव कहलाया है। एवं प्रकृतिसिद्ध नित्य सौरप्राण आजानदेव कहलाए हैं। सौर सम्वत्सर में भुक्त पार्थिव नाचिकेतस्वर्ग में (निधनानन्तर) कर्म्मदेव प्रतिष्ठित होते हैं। शतगन्धर्वानन्दों को मिला कर इनका एक आनन्द है। शत कर्म्मदेवानन्दों की समष्टि एक आजानदेवों का आनन्द है। यही सौर आनन्दद्वयी की मीमांसा है। सूर्य्य से ऊपर परमेष्ठी प्रजापति है। आजानदेवों के शत आनन्दों की समष्टि एक प्रजापति का आनन्द है। यही पारमेष्ठ्य आनन्द की मीमांसा है। परमेष्ठी से ऊपर अव्यक्त स्वयम्भू ब्रह्म है। प्रजापति के शत आनन्दों की समष्टि का एक ब्रह्मलोकानन्द (स्वायम्भुवानन्द) है। यह स्वायम्भुव आनन्द उस केन्द्रस्थ आत्मानन्द (असीमानन्द) के सन्निकट है। अतः इसे भी परमानन्द मान लिया जाता है। अपिच मात्रानन्दों में यही आनन्द परम (अन्तिम)है। इसलिए भी इसे परम आनन्द कह दिया जाता है। यही स्वायम्भुव आनन्द की मीमांसा है, यही मात्रानन्द की मीमांसा है, जिसका निम्न लिखित परिलेख, तथा श्रुति से स्पष्टीकरण हो रहा है—

(१) ब्रह्मलोक-आनन्दः]—स्वायम्भुव-आनन्दः (५)—सैषा अव्यक्तानन्दमीमांसा
(१) प्रजापतिलोक-आनन्दः]-पारमेष्ठ्य-आनन्दः (४)—सैषा महदानन्दमीमांसा
(२) आजानदेवानामानन्दः } —सौर-आनन्दः (३)-सैषा विज्ञानानन्दमीमांसा
(१) कर्म्मदेवानामानन्दः }
(२) गन्धर्वलोक-आनन्दः } चान्द्र-आनन्दः (२)—सैषा प्रज्ञानानन्दमीमांसा
(१) पितॄणामानन्दः }
(१) मनुष्याणां परम आनन्दः]—पार्थिव-आनन्दः (१)—सैषा अर्थानन्दमीमांसा

सैषा—मात्रानन्दमीमांसा
—खण्डानन्द-द्वैतानन्दमीमांसा

(१) पार्थिवानन्दो मानुषः–"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति, अन्येषामधिपतिः, सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः"।

❀ ❀ ❀

(२)-चान्द्रानन्दो पैत्रः | "अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः, स एकः पितॄणामानन्दः।"
,, गान्धर्वः | "अथ ये शतं पितॄणामानन्दाः, स एको गन्धर्वलोक आनन्दः।"

❀ ❀ ❀

(३)–सौरानन्दो दैवः-"अथ ये शतं गन्धर्वलोक आनन्दाः, स एकः कर्म्मदेवानामानन्दः"। "अथ ये शतं कर्म्मदेवानामानन्दाः, स एक आजानदेवानामानन्दः"।

(४)–पारमेष्ठ्यानन्दः प्राजापत्यः-"अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापति-लोक आनन्दः"।

❀ ❀ ❀

(५)–स्वायम्भुवानन्दो ब्राह्मः–"अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्म-लोक आनन्दः"।

बृ० आ० उ० ४।३।३३।

२२—तैत्तिरीयोपनिषत्सम्मत–आनन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

उक्त मात्रानन्दमीमांसा का तैत्तिरीयश्रुति में अन्य दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है। प्रसङ्गोपात्त दो शब्दों में उसका भी दिग्दर्शन करा दिया जाता है। ओर सब दृष्टियों से तो तैत्तीरीयमीमांसा बृ० आ० मीमांसा से समतुलित है। केवल दैवानन्दमीमांसा में थोड़ा अन्तर है। बृहदारण्यक में जहाँ कर्म्मदेवानन्द की अपेक्षा आजानदेवानन्द विशेष समृद्ध माना गया है, वहाँ तैत्तीरीय ने आजानदेवानन्दापेक्षया कर्म्मदेवानन्द को विशेष समृद्ध माना है। साथ ही आजानजदेव, कर्म्मदेव, दोनों से पृथक् एक देवानन्द की सत्ता और स्वीकार की गई है। एवमेव बृहदारण्यक ने पैत्रानन्द की अपेक्षा जहाँ गन्धर्वानन्द को समृद्ध माना है, वहाँ तै० ने गन्धर्वानन्द की अपेक्षा पैत्रानन्द को प्रधानता दी है, साथ ही गन्धर्वानन्द मानुषगन्धर्वानन्द, दैवगन्धर्वानन्द भेद से द्विधा विभक्त माना है। एवमेव बृ० ने देवानन्द के अव्यवहितोत्तरस्थान में ही जहाँ प्राजापत्य आनन्द की स्थिति बतलाई है, वहाँ तैत्तिरीय ने दोनों के मध्य में क्रमशः ऐन्द्र आनन्द, बार्हस्पत्य आनन्द, इन दो मात्रानन्दों का समावेश और माना है। शेषांश दोनों का समतुलित है।

मानुषानन्द दोनों का समतुलित है। बृहदारण्यक का लक्ष्य कर्म्मात्मक पितर है। इष्ट–आपूर्त–दत्त, इन विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म्मों के अनुयायी मनुष्य का मानुषात्मा निधनानन्तर कर्म्मपितररूप में परिणत हो जाता है। चान्द्रपितृलोकावाप्ति ही इस सत्कर्म्म का फल है। **'स एकः पितॄणां जितलोकानामानन्दः'** (बृ० आ०) से श्रुति कर्म्मपितर को ही लक्ष्य बना रही है। पार्थिव मानुषानन्द के अनन्तर इसी का अवस्थान है।

उभयविध गन्धर्वानन्दों में से मानुष्यगन्धर्वानन्द का बृहदारण्यक ने मानुषानन्द में ही अन्तर्भाव मान लिया है। कर्म्मणा गन्धर्वयोनि-प्राप्त मानुषात्मा ही 'मनुष्यगन्धर्व है'। इसका स्थान अवश्य ही कर्म्मपितर की अपेक्षा निम्न है। दूसरा है-देवगन्धर्वविभाग। नित्य प्राणात्मक चान्द्र अन्तरिक्षभुक्त गन्धर्व ही देवगन्धर्व है। कर्म्मात्मक अनित्य पितरों की अपेक्षा इनका स्थान उच्च है। अतः बृहदारण्यक ने पितर के अनन्तर इन देव-गन्धर्वों की व्यवस्था स्वीकार की है। तात्पर्य्य-'गन्धर्व' से बृहदारण्यक का लक्ष्य नित्य देवगन्धर्व हैं, और वे अवश्य ही अनित्य कर्म्म-पितरों की अपेक्षा उच्चभूमिका में प्रतिष्ठित हैं।

"बृहस्पतिः पूर्वेषामुत्तमो भवति, इन्द्र उत्तरेषां प्रथमः" इस निगमश्रुति के अनुसार बृहस्पतितत्त्व पूर्वधामों में अन्तिम है, एवं इन्द्रतत्त्व उत्तरधामों में प्रथम है। स्वयम्भूब्रह्म, परमेष्ठी-प्रजापति दोनों पूर्वधाम हैं। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी, तीनों उत्तरधाम (अवधधाम) हैं। सूर्य्यात्मक नवाहयज्ञ का २५ वाँ अहर्गण **'अविवाक्यमहः'** कहलाया है, यही **'महाव्रतमहः'** है। यह सौम्यविद्युद्रूप इन्द्रतत्त्वात्मक है। यह इन्द्रतत्त्व ही राजसूययज्ञ की प्रतिष्ठा है। यही इन्द्रतत्त्व सूर्य्यादि उत्तर धामों का उपक्रमस्थान है। यही इन्द्रधाम पुराणों में **'यत्र गत्वा न पुनर्म्रियन्ते'** निर्वचन से **'अपुनर्मार'** लोक कहलाया है। इस पञ्चविंश, राजसूययज्ञप्रवर्त्तक, अपुनर्मार-लोकात्मक विद्युदिन्द्र से ऊपर पञ्चदशाहयज्ञ के केन्द्र में बृहस्पतिप्राण प्रतिष्ठित है। सूर्य्यभुक्त २१ वें अहर्गण से आरम्भ कर ३६ वें अहर्गण पर्य्यन्त, १५ अहर्गणों में व्याप्त पारमेष्ठ्य गोसवयज्ञ ही 'पञ्चदशाहयज्ञ' कहलाया है। २६ वाँ अहर्गण इस यज्ञ का केन्द्र बनता है। यहीं बृहस्पतितत्त्व प्रतिष्ठित है। यही बृहस्पति 'वाजपेययज्ञ' का प्रवर्त्तक माना गया है। अतएव वाजपेयसव 'बृहस्पतिसव' कहलाया है। बृहस्पतिसव-प्रवर्त्तक यही बार्हस्पत्यधाम पुराणों में **'अशोकमहिम'** कहलाया है *। यही बृहस्पतितत्त्व पूर्वधामों का उपसंहारस्थान है। इसप्रकार सूर्य्य से ऊपर २५, २६, इन दो अहर्गणों के सम्बन्ध से पारमेष्ठ्य लोक में इन्द्र, बृहस्पति, इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सौर आजानदेवानन्तर पञ्चविंश विद्युदिन्द्र प्रतिष्ठित है, तदनन्तर नवविंश बृहस्पति प्रतिष्ठित है, तदनन्तर परमेष्ठी प्रजापति प्रतिष्ठित हैं। बृहदारण्यक ने इन्द्र, और बृहस्पति का परमेष्ठी प्रजापति में अन्तर्भाव मानते हुए जहाँ आजानदेवानन्तर प्रजापति की व्यवस्था की है, वहाँ तैत्तिरीय ने इन्द्र-बृहस्पति दोनों पारमेष्ठ्य तत्त्वों का पृथक्रूप से विश्लेषण कर दिया है। बृहदारण्यक, तथा तैत्तिरीय की मात्रानन्दमीमांसा में यही अन्तर है, जो तत्त्वतः निर्विरोध है।

*** यन्न दुःखेन सम्भिन्नं यच्च ग्रस्तमनन्तरम्।**
अभिलाषोपनीतं च तत्पदं स्वःपदास्पदम्॥

५	(१) ब्रह्मण आनन्दः (४८)	—स्वायम्भुवः (अव्यक्तानन्दः ५) ।	
४	(३) प्रजापतेरानन्दः (३६)	—पारमेष्ठ्यः (महदानन्दः ४) ।	
	(२) बृहस्पतेरानन्दः (२६)		
	(१) इन्द्रस्यानन्दः (२५)		
३	(३) देवानामानन्दः (२१)	—सौरः (विज्ञानानन्दः ३) ।	
	(२) कर्म्मदेवानामानन्दः (१७)		
	(१) आजानदेवानामानन्दः (६)		
२	(३) पितॄणामानन्दः (१५)	—चान्द्रः (प्रज्ञानानन्दः २) ।	
	(२) देवगन्धर्वाणामानन्दः (१५		
	(१) मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः (१५)		
१	(१) मानुष आनन्दः (*)	—पार्थिवः (अर्थानन्दः १) ।	

"सैषा आनन्दस्य (मात्रानन्दस्य) मीमांसा भवति"

—तैत्तिरीयोपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली ८ अनुवाक

२३–मानव की आनन्दलिप्सा, और तत्समाधानप्रकार—

आनन्दमीमांसा का प्रयोजन क्या !, उत्तर स्पष्ट है । लोक-भोग-परायण व्यक्ति इसलिए विषयों में प्रवृत्त रहते हैं कि, ये भोग सुख के कारण बनते हैं । लौकिक विषयानन्दपरायण व्यक्ति अध्यात्मप्रवणता का यह कहते हुए उपहास किया करते हैं कि, लौकिक विषयों में तो हमें आनन्द मिलता है । आत्मचिन्तन क्यों किया जाय, जबकि उसके अनुष्ठान-प्रकारों में विषयानन्द-प्रवृत्ति का पदे पदे निरोध होता रहता है । आनन्दकामना से विषयों में आसक्त कामकामी पुरुष से श्रुति पूँछती है कि, बतलाओ ! तुम्हें कितना आनन्द चाहिए ?, कामकामी उत्तर देता है–कोई कमी न रहे, यच्चयावत् अभिलषित पदार्थ मिल जाँय । श्रुति ने समस्त पार्थिवभोग सम्मुख रख

दिए और साथ ही में यह भी सङ्केत कर दिया कि, वित्तपूर्ण पृथिवी के समस्त भोगों में तुम जितना आनन्द समझते हो, चान्द्रमहिमा में इससे शतगुण अधिक आनन्द है। उसकी लालसा हुई, क्योंकि भूमा-लालसा स्वाभाविक है। चान्द्र आनन्द के अनन्तर उस सौर आनन्द की ओर आनन्दलिप्सु का ध्यान आकर्षित किया, जो सौर आनन्द चान्द्रानन्दापेक्षया भी शतगुण अधिक है। तदपेक्षयापि शतगुणीकृत पारमेष्ठ्य आनन्द को सम्मुख रक्खा। तदपेक्षया भी शतगुणीकृत स्वायम्भुव आनन्द की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। और संकेतद्वारा इस मात्रानन्दमीमांसा से यह आदेश दिया कि, पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्रा उत्तर-उत्तर-आनन्दमात्राओं से सीमित है। अतएव पूर्व-पूर्व-आनन्दमात्राओं के अनुगमन से उत्तर-उत्तर-भूमानन्दमात्राओं की कामना बनी रहती है, लालसा बनी रहती है। कामना एक प्रकार का क्षोभ है, अशान्ति है। फलतः इन काममय मात्रानन्दों से कभी वास्तविक शान्ति नहीं मिल सकती-**'नामृतत्त्वस्य तु-आशास्ति वित्तेन'**। जिस मूलप्रदेशस्थ (हृदयस्थ) घनानन्दमूर्त्ति निष्काम आत्मानन्द की मात्रा ले लेकर भूत पर्व आनन्द (आनन्दविशिष्ट) बने हुए हैं, उसे प्राप्त करना ही पुरुष का परमपुरुषार्थ है। तभी दुःख का आत्यन्तिक विमोक सम्भव है *। वहाँ क्षोभ का आत्यन्तिक अभाव है, पूर्ण-शान्ति का साम्राज्य है।

२४-विषयानन्दप्रवृत्ति का काल्पनिक मोह—

विषयभोगपरायण, कहने भर को वीतराग लोकायतिकों ने आत्मानन्दरूप ब्रह्मानन्द के वास्तविक तत्त्व को न समझते हुए इसका उपहास किया है। वे कहते हैं कि, उस आत्मानन्द के अन्वेषण में कौन व्यर्थ का प्रयास करेगा, जिसमें न द्रष्टा है, न दृश्य है, न अनुभव है, न अनुभवकर्त्ता है। है, तो केवल जड़भाव। जैसे एक मूर्च्छित मनुष्य चेतना से विलुप्त रहता हुआ जड़वत् निश्चल बना रहता है, वही दशा ब्रह्मानन्दानुगामियों की है। मृत्युसम ऐसी शान्ति का कौन अनुगमन करेगा। 'चारु' वाक्प्रयोग में कुशल नास्तिकों की ऐसी ऐसी बातें सुनने में तो बड़ी प्रिय लगती हैं। तत्त्वज्ञानशून्य सभी संसारी तत्काल उनके इस प्रलोभन को स्वीकार कर लेंगे, और कह बैठेंगे कि, ठीक तो है। सुस्वादु भोजन, रूपदर्शन, सङ्गीतश्रवण, आदि आनन्दों का अनुभव ब्रह्मानन्द में कहाँ है। सचमुच उस एकान्ततः स्थिरवृत्ति में पहुँचना तो अपने आपको जड़ बना लेना है। जहाँ न मोद-प्रमोद, न हास्य-विलास, न मित्रगोष्ठियाँ, न सुन्दर दृश्यावलियाँ। है केवल स्थाणुवत निश्चलभाव। क्या अन्तिम आनन्द का यही स्वरूप है ?, यही फल है ?। तभी तो सर्वसाधारण की वैसे कल्पित आत्मानन्द की ओर प्रवृत्ति नहीं होती। साधारण क्या, कोई भी समझदार ? प्रत्यक्षफलजनक विषयानन्दों को छोड़ कर कभी उस कल्पनातीत काल्पनिक जड़ताप्रवर्त्तक आत्मानन्द की ओर प्रवृत्त न होगा।

२५-ब्रह्मानन्द के प्रति लोकायतिकों की भ्रान्ति, एवं तन्निराकरण—

क्या लोकायतिकों का उक्त कथन तथ्यपूर्ण है ?, नेति होवाच। विषयानन्दहष्टि से ही विचार कीजिए। आनन्द वही वास्तविक आनन्द माना गया है, जिसमें मन की तन्मयता अक्षुण्ण बनी रहती है। जिन विषयानन्दों में मन और विषय का सर्वथा पार्थक्य बना रहता है, वे विषयानन्द नीरस से प्रतीत होने लगते हैं।

---

* यदा चर्म्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति॥

'आनन्दविभोर' मन ही आनन्दी कहलाया है। एवं यह विभोरता ही मन की तन्मयता कहलाई है। जिस विषयानन्द में यह तन्मयता आजाती है, वह विषयानन्द द्वैतभाव से पृथक् सा रहता है। विषय, तज्जनित आनन्द, आनन्द-भोक्ता मन, तीनों मिल कर एकाकार बन जाते हैं। मन अपने आपको भुला देता है। उस आत्यन्तिक विषयानन्दचर्वणा में थोड़ी देर के लिए मनुष्य ऐसा मुग्ध बन जाता है कि, उस दशा में उसे बाहिर, भीतर, द्रष्टा-दृश्य-आदि भेदों का कुछ भी भान नहीं रहता। चर्वणा शान्त होने पर उसे स्वयं को ऐसा भान होता है, जैसे वह गहरी नींद से जगा हो। विषयानन्दों में से तल्लीनता प्रवर्त्तक ऐसे विषयानन्द ही उत्कृष्ट विषयानन्द मानें गए हैं। स्वयं विषयानन्दपरायण लौकिक मनुष्य भी ऐसे उत्कृष्ट विषयानन्दों के लिए ही सदा लालायित देखे सुने गए हैं। यही इस बात का प्रमाण है कि, आनन्द वही उत्कृष्ट माना जायगा, जिसमें द्वैतभाव की अधिकाधिक निवृत्ति, एवं तन्मयताप्रवर्त्तक अद्वैतभाव की अधिकाधिक प्रवृत्ति रहेगी।

२६—रत्यानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

और और जितनें भी विषयानन्द हैं, सभी अपनी चरमावस्था पर पहुँच कर तन्मयता के प्रवर्त्तक बनते हुए यद्यपि उत्कृष्ट आनन्दकोटि में आते हुए अद्वैतानन्द से समतुलित हो जाते हैं, तथापि विषयानन्दों में दो ही उदाहरण ऐसे उपलब्ध होते हैं, जिनमें तन्मयतारूप अद्वयभाव सर्वथा प्रस्फुटित रहता है। अतएव ऋषियों नें ब्रह्मानन्द की सर्वोत्कृष्टता का परिचय कराने के लिए उन दो विषयानन्दों को ही उदाहरण माना है। पहिला विषयानन्द रत्यानन्द है, दूसरा विषयानन्द निद्रानन्द है। रत्यानन्द गौण है, निद्रानन्द प्रधान है। रत्यानन्दलक्षण विषयानन्द लौकिक यच्चयावत् विषयों में क्यों श्रेष्ठ माना गया ?, लौकिक मनुष्य भी इसे क्यों उत्कृष्ट आनन्द मान रहें हैं ?, प्रश्न का एकमात्र उत्तर है द्वैताल्पत्व, एवं अद्वैत-भूयस्त्व। अद्वैतभूयस्त्व का कारण है-पूर्णता, पूर्णता का कारण है-दो अर्द्धाकाशों का एकत्र समन्वय। ब्रह्मानन्द आकाशात्मक माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है। आकाश परिपूर्ण है, अतएव उसे पूर्णपुरुष कहा जाता है। इस पूर्णपुरुषात्मक आकाश के सूर्य्य-चन्द्र माध्यम से अहरोत्र द्वारा दृश्य-अदृश्य भेद से दो विभाग हो जाते हैं। सौर अर्द्धाकाश आग्नेय है, यही अहःकाल है, यही दृश्य अर्द्धाकाश है, इसीसे पुरुषसृष्टि का विकास हुआ है। अग्निसम्बन्ध से ही आग्नेय-अर्द्धाकाश से कृतात्मा पुरुष आग्नेय, अतएव अन्नाद (भोक्ता) कहलाया है। चान्द्र अर्द्धाकाश सौम्य है, यही रात्रिकाल है, यही अदृश्य अर्द्धाकाश है, इसीसे स्त्री-सृष्टि का विकास हुआ है। सोम के सम्बन्ध से ही सौम्य-अर्द्धाकाश से कृतात्मा स्त्रीतत्त्व सौम्य, अतएव अन्न (भोग्य) कहलाया है। केवल पुरुष भी अर्द्धाकाश से कृतात्मा बनता हुआ अर्द्धवृगल है, अपूर्ण है। केवल स्त्री भी अर्द्धाकाशात्मिका बनती हुई अपूर्णा है। जब दोनों का दाम्पत्यभाव होता है, तो पूर्णता प्रस्फुटित हो जाती है। पुरुष के अर्द्धाकाश की पूर्णता स्त्री के अर्द्धाकाश पर ही निर्भर है। इसी आधार पर-"**सोऽयमाकाशः स्त्रिया पूर्य्यते**"(बृ० आ० १।४।३।) यह सिद्धान्त व्यवस्थित हुआ है। अर्द्धाकाशात्मक पुरुष, एवं अर्द्धाकाशात्मिका स्त्री, दोनों का जब दाम्पत्यभाव (मिथुनसम्बन्ध) होता है, तो आकाशसम्पत्ति पूर्ण बन जाती है। पूर्णाकाश के सम्पन्न होते ही द्वैतभाव उच्छिन्न हो जाता है, पूर्णात्मक अद्वैतभाव प्रस्फुटित हो जाता है। अतएव उभयसमन्वयात्मिका इस रति में पुरुष-स्त्री, दोनों अपना पार्थक्य भूल जाते हैं, तन्मय हो जाते हैं। परिमित क्षणों तक प्रस्फुटित रहने वाला यही रत्यानन्द विषयानन्दों में से उस उत्कृष्ट विषयानन्द का उदाहरण है, जिसे अद्वैतानन्द के परिचय के लिए मध्यस्थः माना जा सकता है। अपिच-श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-काम,

चारों प्रेमों का इस रतिप्रेम में समन्वय रहता है। यह सर्वोत्कृष्ट-सर्वात्मक प्रेम प्रथम तो ब्रह्म के साथ ही सम्भव है, अथवा तो पत्नी के साथ ही, जैसा कि भक्तिपरीक्षा-उत्तरखण्ड के 'प्रेमाभक्ति' प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

रत्यानन्दस्वरूप-विश्लेषण से प्रकृत में हमें उन विषयानन्द-पक्षपातियों से यह पूँछना है कि, क्या रत्यानन्द उन्हें विषयानन्दों में उत्कृष्ट आनन्द प्रतीत नहीं होता ?, यदि हाँ, तो हम फिर पूँछते हैं कि-क्या इसमें भोजनानन्दादि की भाँति द्वैतप्रतीति होती है ?, क्या अपने आपका बोध यथानुरूप बना रहता है ?, नहीं, तो फिर उनसे पूँछा जाता है कि, जब रत्यानन्द में द्वैतभाव नहीं, अपितु तल्लीनता है, अपने आपको भुला देना है, तो जडता से समतुलित इस रत्यानन्द के लिए विषयभोगपरायण वे महानुभाव अतिशयरूप से लालायित क्यों ?, 'त एव पृष्टव्याः ?'। मानना पड़ेगा कि-आनन्द वही वास्तविक आनन्द है, जिसमें द्वैत-भाव का अधिकाधिक ह्रास हो, अद्वैतसम्पत् का अधिकाधिक विकास हो। जबकि क्षणमात्र के लिए प्राप्त रत्यानन्दात्मक विषयानन्दरूप अद्वैतानन्द की सर्वोत्कृष्टता अनुभवसिद्ध है, तो क्या वे विषयानन्दपक्षपाती उस अद्वैतलक्षण परिपूर्ण ब्रह्मानन्द का उपहास कर सकेंगे, जिसमें क्षणमात्र के लिए नहीं, अपितु सदा के लिए तल्लीनतारूपा आनन्दसम्पत् संश्लिष्ट है। क्या कह सकेंगे उस नित्य-परिपूर्ण-ब्रह्मानन्द को वे जडानन्द ?। अपने अन्तर्जगत् में वे अद्वैतभावापन्न, किन्तु क्षणिक रत्यानन्द, एवं अद्वैतभावापन्न, किन्तु नित्य-ब्रह्मानन्द, दोनों का समतुलन करें। और फिर ब्रह्मानन्द-की हेयोपादेयता का निर्णय करें। तत्त्वदर्शी ऋषियों नें विषयभोगपरायण ऐसे व्यक्तियों के उद्बोधन के लिए ही ब्रह्मानन्दस्वरूपपरिचय के लिए रत्यानन्द को उदाहरण बनाया है, जिस उदाहरण का एकमात्र लक्ष्य है-रत्यानन्द से सम्बन्ध रखने वाली अद्वैतानुभूति, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

"तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। एवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद, नाऽऽन्तरम्। तद्वा अस्यै-तदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्" (बृहदारण्यकोपनिषत् ४।३।२१।)।

२७-पुत्र-लोक-वित्तैषणा-प्रवर्त्तक रत्यानन्द—

रत्यानन्द के उक्त औपनिषद-उदाहरण के सम्बन्ध में कुछ एक अतिशय-सभ्यताभिमानी प्रतीच्य विद्वानों नें इसलिए अपनी अरति प्रकट की है कि, ब्रह्मानन्द जैसे पवित्रतम-लोकोत्तर आनन्द के साथ रत्यानन्द-जैसे वैषयिक लौकिक क्षणिक आनन्द की तुलना करना समीचीन नहीं। उनकी इस अरति का उत्तर पूर्व में दिया जा चुका है। उदाहरण से केवल आनन्दानुभूति अभिप्रेत है। और विषयानन्दों में अद्वैतानन्दानुभूति की प्रतिच्छाया से मिलता जुलता उदाहरण एकमात्र रत्यानन्द ही है। अपिच उदाहरण के द्वारा श्रुति को लौकिक मनुष्य के सम्मुख ब्रह्मानन्द की महत्ता उपस्थित करनी है। वह यह बतलाना चाहती है कि, यच्चयावत् विषयानन्दों की अपेक्षा ब्रह्मानन्द ही ज्येष्ठ, श्रेष्ठ, अतएव अनुगमनीय है। मानते हैं-रत्यानन्दातिरिक्त रूपदर्शन-सङ्गीत-श्रवण आदि अन्यान्य विषयानन्दों में भी तल्लीनतालक्षणा अद्वैतानन्दानुभूति होती है। परन्तु इन और किन्हीं विषयानन्दों को उदाहरण न बना कर रत्यानन्द को उदाहरण मानने में ऋषि का कुछ और भी प्रयोजन है।

यच्चयावत् लौकिक कामनाओं का पुत्रकामना, लोककामना, वित्तकामना, इन तीन कामनाओं में अन्तर्भाव है। एवं आनन्दलिप्सु प्रेमी मन की प्रेमधारा कामना की दृष्टि से श्रद्धा, वात्सल्य, स्नेह, काम, इन चार अवान्तर धाराओं में प्रवाहित है। रत्यानन्द ही एक ऐसा उदाहरण है कि, जिसमें पुत्र–लोक–वित्त, इन तीनों सर्वकामनामयीं प्रधान कामनाओं का भी समन्वय है, एवं श्रद्धादि चारों प्रेमधाराओं का भी समन्वय है। पुत्रैषणा की पूर्त्ति रत्यानन्द पर ही निर्भर है। अतएव रत्यानन्द (दाम्पत्य) के फलस्वरूप पुत्र को भी श्रुति ने 'आनन्द' नाम से ही व्यवहृत किया है *। पुत्र ही एकमात्र लोकप्रतिष्ठा का, लोकमुक्ति का, लोकैषणा का पूरक माना गया है ×। एवं पुत्रार्थ ही पिता की वित्तैषणा की ओर प्रवृत्ति रहती है। बिना पुत्रसम्पत्ति के मनुष्यका वित्तसम्पत्ति से भी विराग हो जाता है। इसप्रकार पुत्रके द्वारा रत्यानन्द तीनों एषणाओं का संग्राहक बना हुआ है। इन्हीं सब तत्त्वदृष्टियों के आधार पर श्रुति ने रत्यानन्द को ही उदाहरण माना है, जिसके तात्त्विक दृष्टिकोण से अपरिचित रहने के कारण ही भूतदृष्टिपरायण प्रतीच्य विद्वान् 'मुखमस्तीति वक्तव्यं, दशहस्ता हरीतकी' को अन्वर्थ बनाते रहते हैं।

२८–निद्रानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

अब दो शब्दों में दूसरे प्रधान निद्रानन्दरूप विषयानन्द की भी मीमांसा कर लीजिए। यह ठीक है कि, अन्यान्य विषयानन्दों की अपेक्षा रत्यात्मक विषयानन्द अद्वैतानुभूति में प्रधान रहता हुआ तात्त्विक उदाहरण बन रहा है, तथापि एक विशेष हेतु से इस उदाहरण को भी ब्रह्मानन्द से सर्वात्मना समतुलित नहीं माना जा सकता। आनन्द का स्वरूपनिर्वचन करते हुए पूर्व में यह बतलाया गया है कि, आनन्दतत्त्व स्व–स्वरूप से कम्परहित स्थिर तत्त्व है। क्रियारूपा कम्पनमर्य्यादा से यह सर्वथा असंस्पृष्ट है। रत्यानन्द रतिक्रियाजनित है। दो तत्त्वों के मिथुनीभाव से तात्कालिक रत्यानन्द प्रादुर्भूत हुआ है। यद्यपि आनन्दत्वेन रत्यानन्द निश्चल

---

*–"काऽऽनन्दता याज्ञवल्क्य ? (इति जनकः पप्रच्छ)। मन एव सम्राट्–इति होवाच (याज्ञवल्क्यः)। मनसा वै सम्राट् स्त्रियमभिहार्यते। तस्यां प्रतिरूपः पुत्रो जायते। स आनन्दः" (बृ०आ०उ०४।१।६।)।

×–"यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान् पुत्रे पितुस्ततः ॥१॥
किं नु मलं किमजिनं किमु श्मश्रूणि किं तपः।
पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्वं स वै लोकोऽवदावदः ॥२॥
नापुत्रस्य लोकोऽस्तीति तत् सर्वे पशवो विदुः"। (ऐ०ब्रा०३३।२।)।
पुत्रेण लोकाञ्जयति, पौत्रेणानन्त्यमश्नुते।
अथ पुत्रस्य पौत्रेण ब्रध्नस्याप्नोति विष्टपम् ॥
—विष्णुस्मृतिः

इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन श्राद्धविज्ञान ३ खण्ड में देखना चाहिए।

ही है, तथापि इसका क्रियाप्रवृत्ति से सम्बन्ध है। उभयव्यापारात्मक द्वैतकर्म्म की प्रवृत्ति ही रत्यानन्द का निमित्त बनता है। इसके अतिरिक्त एक ही रत्यानन्द का अनुभव भी द्विनिष्ठ बन रहा है। पुरुष का रत्यानन्द स्वतन्त्र है, स्त्री का रत्यानन्द स्वतन्त्र है। दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित एक ही रत्यानन्द दोनों का भोग्य बन रहा है। यही दूसरा द्वैतनिमित्त है। इसके अतिरिक्त रत्यानन्द में प्रवृत्त दोनों को ही यद्यपि बाह्य-आभ्यन्तर प्रपञ्च का बोध नहीं रहता, तथापि स्वात्मपार्थक्य बोध अवश्य सुरक्षित है। दोनों रत्यानन्द में लीन रहते हुए भी पृथक् अस्तित्व का अनुभव कर रहे हैं। तभी तो तदनुरूप व्यापार संक्रान्त रहता है। विशुद्ध अद्वैतभाव में तो क्रिया का आत्यन्तिक रूप से निरोध हो जाता है। यही तीसरा द्वैतभाव है। इन्हीं कुछ एक कारणों से रत्यानन्दोदाहरण में अंशतः शिथिलता आ रही है। रत्यानन्दोदाहरण की इसी अरति को लक्ष्य में रखते हुए ऋषि ने दूसरे 'निद्रानन्द' को उदाहरणरूप से विषयानन्दप्रेमियों के सम्मुख उपस्थित किया है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, भेद से तीन अवस्था प्रधान मानीं गईं हैं। तीनों का क्रमशः प्रज्ञान (मन), विज्ञान (बुद्धि), महान्, इन तीन खण्डात्मविवर्त्तों से सम्बन्ध है! प्रज्ञान-विज्ञान-महान्, तीनों की जाग्रदवस्था जाग्रदवस्था है। प्रज्ञान-विज्ञान, दोनों की जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था है। महान् की जाग्रदवस्था सुप्तावस्था है। एवं महान् की सुप्तावस्था मृत्यु-अवस्था है। आध्यात्मिक चिदात्मा महद्गर्भ में ही प्रतिष्ठित रहता है। हृदयस्थित-महदवच्छिन्न चिदात्मा ही जीवात्मा है। जब तक महान् स्व-स्वरूप से प्रतिष्ठित है, जाग्रत् है, तभी तक जीवात्मा तत्-शरीरपुर में प्रतिष्ठित है। महान् के गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मब्रह्म से निकलनें वालीं ज्ञानरश्मियों से विज्ञान प्रकाशित है, विज्ञान से प्रज्ञान प्रकाशित है, प्रज्ञान से इन्द्रिय-द्वारा विषय प्रकाशित हैं। जबतक प्रज्ञानरश्मियाँ इन्द्रियद्वारा बाह्य विषयों को प्रकाशित करतीं रहतीं हैं, तभी तक इन्द्रिय व्यापार होता रहता है। यही प्रज्ञान की जाग्रदवस्था है, यही प्रज्ञानानुगता प्रथमा जाग्रदवस्था है। जब प्रज्ञानरश्मियाँ सिमट कर प्रज्ञानोक्थ में विलीन हो जातीं हैं, तो इन्द्रियव्यापार अवरुद्ध हो जाता है। यही प्रज्ञान की सुप्तावस्था है। इस अवस्था में प्रज्ञानधरातल पर प्रतिष्ठित सांस्कारिक विषय विज्ञानद्वारा प्रकाशित होते रहते हैं, इसी विज्ञानप्रकाश से प्रज्ञानगत सांस्कारिक विषयों का परस्पर अव्यवस्थितरूप से सम्बन्ध होता रहता है। प्रज्ञान की सुप्तावस्थारूपा, विज्ञान की जाग्रदवस्थारूपा यही दूसरी स्वप्नावस्था है। आगे जाकर विज्ञानरश्मियों का भी विज्ञानोक्थ में निलयन हो जाता है। संस्कार ज्ञानप्रकाश से सर्वथा वञ्चित रह जाते हैं। प्रज्ञान को अपने गर्भ में रखने वाला विज्ञान (विज्ञानरश्मियाँ) पुरीततिनाड़ियों के द्वारा हृदयस्थ महानात्मसम्बद्ध उक्थविज्ञान में विलीन हो जाता है। यही विज्ञान की सुप्तावस्था, किन्तु महान् की जाग्रदवस्था है। यही तीसरी सुषुप्त्यवस्था है। महानात्मगर्भित आत्मा 'स्व' है। इस अवस्था में प्रज्ञान-विज्ञान-आदि सब ज्ञानमात्राएँ इस स्व तत्त्व में अपीत हो जातीं हैं, डूब जातीं हैं, अतएव **'स्वस्मिन्नपीतो भवति'** निर्वचन से इस अवस्था से युक्त व्यक्ति के लिए **'स्वपिति'** कहा जाता है। केवल वही अपने महत्स्वरूप से जाग्रत रहता है। निद्रावस्था सांसारिक अवस्था है, मुक्तावस्था नहीं, यह विषयकामी स्वीकार करेंगे। परन्तु देखते हैं-निद्रावस्था में आत्यन्तिक अद्वैत है। जड़ अद्वैत नहीं, अपितु शान्त अद्वैत। तभी तो निद्रानन्तर **'सुखमहमस्वाप्सम्'** (बड़े सुख से सोए) यह वाक्य मुख से निकलता है। प्रज्ञान-विज्ञानज्ञान अवश्य सुषुप्ति में सुप्त है। परन्तु महत्-ज्ञान जाग्रत है। अतएव निद्रानन्दनिमग्न को जड़ नहीं कहा जा सकता। अपिच इसी ज्ञान के कारण सुप्तावस्था में भी श्वास-प्रश्वासादि प्राणव्यापार होता रहता है। इस व्यापारसत्ता से ही

ज्ञानसत्ता स्वीकार करनी पड़ती है, क्योंकि बिना ज्ञान के व्यापारप्रवृत्ति असम्भव है। निद्रानन्द में द्वैत का आत्यन्तिक अभाव है। अद्वैतलक्षण शान्तानन्द का साम्राज्य है। अतः अवश्य ही इसे ब्रह्मानन्दस्वरूप परिचय के लिए मध्यस्थ उदाहरण माना जा सकता है। निद्रानन्द यदि विषयानन्दप्रेमियों की दृष्टि में शान्तिप्रद है, स्वास्थ्यप्रद है, उपादेय है, जडभावासंस्पृष्ट है, तो तत्समतुलित ब्रह्मानन्द भी अवश्य ही पूर्ण शान्ति-शाश्वतशान्ति का अधिष्ठान बनता हुआ अवश्यमेव विषयानन्दापेक्षया सर्वोत्कृष्ट वह आनन्द है, जिसके निद्रावस्थानुगत क्षणिक प्रसादमात्र से हमारी अध्यात्मसंस्था के सम्पूर्ण विकार दूर हो जाते हैं। एक बात और। रत्यानन्द ब्रह्मानन्द का साक्षात् उदाहरण न बन कर परम्परया उदाहरण बनता है। साक्षात् उदाहरण तो निद्रानन्द ही है। द्वैतभूय रत्यानन्द निद्रानन्द का उदाहरण है, निद्रानन्द ब्रह्मानन्द का उदाहरण है। श्रुति में इसी रूप से दोनों उदाहरणों का समन्वय हुआ है। निम्न लिखित उपनिषद्वचन इसी निद्रानन्द का स्वरूपविश्लेषण कर रहे हैं—

१—"तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे श्येनो वा, सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः-संहत्य पक्षौ संलयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुष एतस्मा अन्ताय धावति। यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते, न कञ्चन स्वप्नं पश्यति" (बृ० उ० ४।३।१९।)।

२—"अथ यत्र (निद्रावस्थायां) देव इव, राजा-इव-अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते। सोऽस्य परमो लोकः"। (बृ० उ० ४।३।२०।)।

३—"तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्मा-अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया०। एवमेवायं पुरुषो न बाह्यं वेद, नाऽन्तरम्" (बृ० उ० ४।३।२१।)।

४—"अत्र पिताऽपिता भवति, माताऽमाता०। तीर्णो हि तदा सर्वाञ्छोकान् हृदयस्य भवति" (बृ० उ० ४।३।२२।)।

५—"यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति। न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते, अविनाशित्वात्। न तु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्"।
(बृ० उ० ४।३।२३।)।

६—"सलिल एको द्रष्टा अद्वैतो भवति। एष ब्रह्मलोकः सम्राट्-इति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्यः। एषाऽस्य परमा सम्पत्, परमा गतिः, परमो लोकः, परम आनन्दः"।
(बृ० उ० ४।३।३२।)।

७—"यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम, सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति। स्वमपीतो भवति। तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते। स्वं ह्यपीतो भवति" (छां० उ० ६।८।१।)।

८—"तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति, आसु नाडीषु तदा सृप्तो भवति। तं न कश्चन पाप्मा स्पृशति। तेजसा हि तदा सम्पन्नो भवति"।
(छां० उ० ८।६।३।)।

६—"अथ यदा सुषुप्तो भवति, यदा न कस्यचन वेद—हिता नाम नाड्यो द्वासप्तति-सहस्राणि हृदयात् पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते, ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते"।
(बृ० उ० २।१।१६।)।

२६—आनन्द, और सुख का पार्थक्य—

प्रसङ्गोपात्त मात्रानन्दमीमांसा, तत्प्रयोजन, ब्रह्मानन्द के प्रति लोकायतिकों का आक्षेप, स्त्यानन्द-निद्रानन्दद्वारा-आक्षेपनिराकरण, इत्यादि प्रासङ्गिक विषयों की मीमांसा की गई। अब दो शब्दों में आनन्द तत्त्व की सहज परिभाषा का सहजभाषा में विश्लेषण और कर कर दिया जाता है। आनन्द को सहजभाषा में हम 'सुख' कह सकते हैं। वस्तुतः आनन्द, और सुख विभिन्न तत्त्व हैं। 'शान्ति'-लक्षण आत्मानन्द आनन्द है, 'समृद्धि'-लक्षण मात्रानन्द (विषयानन्द) 'सुख' है। आनन्द 'शान्तानन्द' कहलाया है, एवं सुख'**समृद्धानन्द**' कहलाया है *। इन्द्रियविवर ही '**पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**' (कठ० १।४।) के अनुसार '**ख**' नाम से व्यवहृत हुए हैं। इन ख-वर्गों (इन्द्रियवर्गों) की शून्य, पूर्ण, दो अवस्था रहतीं हैं। इन्द्रियरूप ख-भावों में यदि रूप-रस-गन्धादि विषय प्रविष्ट रहते हैं, तो ये 'ख' पूर्ण रहते हैं। यही पूर्णता इन्द्रियों का सौष्ठव है। यही 'ख' का 'सु' भाव है। ऐसी विषयपूर्ण इन्द्रियाँ ही 'सु-ख' हैं। यही 'सुख' की तात्त्विक निरुक्ति है। अपिच अनुकूल रुचिकर-हितकर विषयों से 'ख' सुस्थिर बनें रहते हैं। अतएव '**सुस्थिरभावप्रयोजकानि अनुकूलविषयैः परिपूर्णानि-इन्द्रियाणि**' निर्वचन से भी विषयपूर्ण, अतएव सुस्थिर ख-भावों को 'सुख' कहा जासकता है। ठीक इसके विपरीत-हानिप्रद-अरुचिकर-अहितकर-दुष्ट विषयों के आगमन से ख अशान्त होजाते हैं। यही दुष्टानि-खानि-रूप दुःख है। विषयागमनाभाव में इन्द्रियवर्ग अपूर्ण है, यह भी ख का दुष्टत्त्व ही है। इसलिए भी इस भाव को 'दुःख' कहना अन्वर्थ बनता है। '**सुष्ठु-पूर्णानि-खानि, यत्र तत्**' ही 'सुखम्' का निर्वचन है, '**दुष्टानि शून्यानि खानि यत्र तत्**' ही 'दुःखम्' की निरुक्ति है।

सुख (ऐन्द्रियक आनन्द) की दृष्टि से समस्त विश्व के यच्चयावत् प्राणियों का आनन्दानुभव समतुलित है। एक निर्धन विषयानन्द से जितना सुखी है, एक सम्राट् भी विषयानन्ददृष्ट्या तत्परिमित ही सुखी है। कल्पना कीजिए, अभी आप निर्धन हैं। किसी से एक सहस्र रु० आप को मिले शान्त आत्मानन्दसमुद्र में इन सहस्र रुपय्यों के आघात से उसी प्रकार क्षण भरके लिए एक लहर उत्पन्न हो गई, जैसे शान्त सरोवर में पाषाण प्रक्षेप से क्षणमात्र के लिए तरङ्ग उत्पन्न हो जातीं है। यही लहर आगन्तुक समृद्धानन्द है (सुख है)। क्षण भर के लिए आपका प्रज्ञान-धरातल उछला, फिर शान्त होगया। यह शान्ति, और निर्धनावस्था की शान्ति, दोनों समतुलित हैं। लाख-करोड़-अर्बुद-खर्बुद-राज्यपद-साम्राज्यपद-ज्यों ज्यों ये वित्तपरिग्रह आपको मिलते जायँगे, त्यों त्यों उसी अनुपात से प्रज्ञानधरातल क्षण भर के लिए उछल उछल कर शान्त होता जायगा। क्षणिक आह्लादानन्तर वही पूर्वावस्था उदित होती जायगी। और इसप्रकार विषयानन्ददृष्ट्या आप की सम्राडावस्था आपकी निर्धनावस्था से सर्वथा समतुलित रह जायगी। क्या अधिक सम्पन्न को असम्पन्ना-

*—सूक्ष्मदृष्ट्या सुख, और समृद्धि में अन्तर है। तात्कालिक ऐन्द्रियक तुष्टि जहाँ 'सुख' मात्र है, वहाँ दीर्घकालपर्य्यन्त सुरक्षित बहुभोगानुगति 'समृद्धि' है। दोनों की समष्टि के लिए ही लोक में 'सुखसमृद्धि' वाक्य प्रयुक्त है।

पेक्षया अधिक सुख मिलता है ?। निर्धन को भले ही ऐसा प्रतीत मात्र हो, किन्तु वस्तुस्थिति कभी ऐसी नहीं है। सुखानन्दानुभवदृष्ट्या सबका सुखानुभव समतुलित है। कारण स्पष्ट है। विषयानन्द से आत्मानन्द में कोई ह्रास-वृद्धि नहीं होती। हाँ, आत्मानन्द आवृत अवश्य हो जाता है। अतः यह अवश्य कहा जासकता है कि, जिसके कोश में जितना अधिक वित्त-परिग्रह है, वह उतना हीं अधिक अशान्त है। आगन्तुक वित्तपरिग्रह से स्वाभाविक आत्मशान्ति का अभिभव अवश्य सम्भव है-विकास नहीं। अतः सम्पत्ति की विपुलता के तारतम्य के आधार पर सुख-दुःख की व्यवस्था करना अतात्विक है, निर्मूल है। सम्पत्ति के आधार पर दुःखतारतम्य की ही व्यवस्था की जासकती है।

३०—भूमानन्दस्वरूपदिग्दर्शन—

आमोद, प्रमोद, मोद, हर्ष, आह्लाद, उल्लास, आदि सभी मात्रानन्दलक्षण इस सुखात्मक विषयानन्द के अवान्तर विवर्त्त हैं। विषयभेददृष्ट्या सब विभिन्न हैं, विषयत्वदृष्ट्या सब सुखात्मक हैं। एवं विषयवियोग-दृष्ट्या सुख और आनन्द अभिन्न हैं। इस आनन्दसामान्य की सहजपरिभाषा क्या ?, यही वह सहज प्रश्न है, जिसके समाधान के लिए विदित नहीं, भारतीय दार्शनिकेतर दार्शनिको नें, विवेचकों नें कितने महा निबन्धों से अपनी प्रज्ञा को क्लान्त किया होगा, जबकि भारतीय महर्षियों नें सहजभाषामयी अपनी केवल सात अक्षर की एक पङ्क्ति में हीं इस दुरूह तत्त्व का स्वरूपविश्लेषण कर डाला है। लक्ष्य दीजिए निम्न लिखित पङ्क्ति पर, और मनन कीजिए उसकी गभीरार्थमहिमा का—

"यो वै भूमा-तत् सुखम्" (छां० उ० ७।२३।१)।

जिसे हम लोकभाषा में 'बहुत' कहा करते हैं, उसी के लिए वेदभाषा में 'भूमा' शब्द व्यवहृत हुआ है। **'बहोर्भावः-भूमा'-'अतिशयेन बहु-भूयिष्ठ एव भूमा'** इत्यादि निर्वचनानुसार बहुत्त्व का ही नाम भूमा है। यही सुख की वास्तविक वह व्यापक परिभाषा है, जिसके गर्भ में यच्चयावत् सुखविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। पहिले लोकदृष्टि (विषयदृष्टि) से भूमा की सुखरूपता का समन्वय कीजिए। यदि निवासस्थान विपुल है, बड़ा है, तो उसमें संकुचित स्थानापेक्षया अधिक सुख मिलता है। भोजन-शयन-चलन-आदि व्यापारों का सुखत्त्व भी इसी भूमा पर निर्भर है। सम्पत्ति की अधिकाधिक भूमा अधिकाधिक सुखप्रवृत्ति का कारण मानी गई है। पूर्व में हमनें प्राणिमात्र के सुखानुभव को समतुलित बतलाया है। वह कथन आत्मानन्द की दृष्टि से सम्बद्ध मानना चाहिए। आत्मानन्दापेक्षया सभी विषयानन्द समतुलित हैं। किन्तु स्वयं विषयानन्दों की पारस्परिक तुलना में बहुत्त्वयुक्त विषय अल्पत्त्वयुक्त विषयापेक्षया भूमानुगत बनते हुए विशेषतः सुखप्रवर्त्तक बनते हैं। विषय दुःख के कारण माने जाते है, परन्तु तत्त्वतः भूमा का अभाव दुःख का कारण बनता है। एक सहस्र का मिल जाना दुःख का कारण नहीं है, मिल कर छिन जाना दुःख का कारण है। जो जिस स्थिति में पहिले से है, वह बहुत्त्वभाव से युक्त होकर सुखी अवश्य होगा, परन्तु दुर्भाग्यवश यदि इसका आगन्तुक बहुत्त्व न रहेगा, तो इसे पूर्वदशापेक्षया भी अधिक दुःख हो जायगा। पुत्र-पौत्र-धन-धान्य-सभी भूमानुगत बनते हुए सुखप्रवर्त्तक हैं, अल्पतानुगामी बनते हुए दुःखप्रवर्त्तक हैं। अतएव दुःख की-**'नाल्पे सुखमस्ति'** (छां०-उ० ७।२३।१) यह परिभाषा की जाती है। अल्पता ही दुःख-शोक-भय-क्लेशादि पाप्माओं की जननी है, जिसका अनुभव हमें अपने पार्श्ववर्त्ती मार्गस्थ जलयन्त्र के द्वारा प्रतिदिन हुआ करता है। विशालसरोवर भूमा से युक्त है, वहाँ १०-२० क्या, सैकड़ों मनुष्य निर्विरोध प्यास बुझा सकते हैं, किन्तु अल्प लौहनलिका के द्वारा

आगत जलयन्त्र की अल्पजलमात्रा जलग्राहकों में संघर्ष उत्पन्न कराती रहती है। निदर्शन है। गृहघट से जलयन्त्र, इससे कूप, कूप से वापी, तड़ाग, सरोवर, नद, महानद, सागर, समुद्र, इनमें उत्तरोत्तर भूमा का साम्राज्य है, पूर्वपूर्व अल्पता का प्राधान्य है। अल्पता सर्वत्र दुःख है, भूमा सर्वत्र सुख है। पार्थिव व्यष्टिरूप विषय समस्त पृथिव्यपेक्षया अल्प हैं, पृथिवी भूमा-भावमयी है। अतएव कृत्स्न पार्थिवानन्द व्यष्टिरूप अल्पताओं की अपेक्षा भूमानुगत बनता हुआ मनुष्य के लिए परमानन्द है। पृथिव्यपेक्षया चान्द्रान्तरिक्ष भूमा है, तदपेक्षया सौरमण्डल, तदपेक्षया पारमेष्ठ्यमण्डल, एवं तदपेक्षया स्वायुम्भवमण्डल भूमा है। निःसीम भूमा ब्रह्मानन्द-भूमा है। यही आत्मभूमालक्षण आत्मानन्द है।

३१—भूमा, और तद्रूप आकाश—

समझे नहीं, भूमा का कुछ और विश्लेषण होना चाहिए। भूमा विषय की अल्पता-महत्ता से सम्बन्ध रखती है, अथवा संख्या से?। विषयाकारवैपुल्य भूमा से अभिप्रेत है, अथवा विषयसंख्याबहुत्व भूमा से संग्राह्य है?। हाँ भी, और ना भी। यदि विषयवैपुल्य से विषयाधारभूत आकाशप्रदेश अपेक्षित है, तब तो हाँ। यदि विषयवैपुल्य से मर्त्य क्षर-परमाणु अभिप्रेत हैं, तो ना। एवमेव संख्या से यदि संख्याधारभूता आकाशात्मिका निरपेक्षा एकत्वसंख्या अभिप्रेत है, तो हाँ। यदि विषयसंख्या से सापेक्ष १-२-३-आदि मर्त्य संख्याएँ अभिप्रेत हैं, तो ना। प्रदेश का नाम भूमा है। प्रदेश वह अवकाश है, जिसमें नामरूपात्मक विषय प्रतिष्ठित रहते हैं। अवकाशात्मक प्रदेश 'शून्य' तत्त्व है। श्वा इन्द्र से परिपूर्ण, दूसरे शब्दों में श्वा-इन्द्रप्राणात्मक अवकाश-प्रदेश ही **'शुने हितम्'** निर्वचन से 'शून्यम्' है। यह **शून्यम् तत्त्वतः पूर्णम् है। इन्द्र प्राणा-त्मक पूर्णावकाश आकाश है।** अवकाशात्मक आकाश ही नामरूपकर्म्मात्मक **यच्चयावत् मर्त्य** विषयों को स्व-स्वरूपोद्भव, स्थिति, लय के लिए अवकाश प्रदान करता है, जैसा कि-**'आकाशमवकाशप्रदाने'** (गर्भोप-निषत् १) इत्यादि उपनिषच्छ्रुति से प्रमाणित है।

३२—शून्य-पूर्ण-स्वरूपदिग्दर्शन—

अतत्त्वानुगामियों नें आकाश का अर्थ शून्य समझ रक्खा है, और शून्य का अर्थ 'कुछ नहीं' मान रक्खा है। आकाश शून्य अवश्य है, परन्तु शून्य का अर्थ है प्राणप्रद-जीवनप्रद-अवकाश-प्राणात्मक श्वा इन्द्रा-त्मक तत्त्व, जिसका **'शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्'** (ऋक्सं०३।३०।२२।) इत्यादि मन्त्र से विश्लेषण हुआ है। अवकाश का भी अर्थ सर्वसाधारण में शून्यस्थान (खाली जगँह) ही समझा जारहा है। परन्तु वस्तुतः अवकाश इन्द्रप्राणरूप है। तभी तो-'प्राणा वै अवकाशाः' (कौ० ब्रा०८।७।) यह श्रुति चरितार्थ होती है। सम्पूर्ण विश्व में कोई भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ यह जीवनप्रद आकाशात्मा श्वा-इन्द्र व्याप्त न हो **'नेन्द्राद्दते पवते-धाम किञ्चन'**। (ऋक्सं० ६।६६।६।)। इसी से सबको जीवनीय रस मिलता है। निरावरण प्रदेशों में यह स्वस्वरूप से विकसित रहता है। अतएव सावरण-वारुण प्रदेशों में जहाँ प्राज्ञेन्द्र मूर्त्ति प्रज्ञान मन अकुला जाता है, वहाँ निरावरण प्रदेशों में स्वप्रभव शुन इन्द्रप्राण के सहयोग से मन प्रफुल्लित हो पड़ता है। खुली हवा में **'इन्द्रतुरीया ग्रहा गृह्यन्ते'** के अनुसार एक चतुर्थांश मरुत्वान् नामक आन्तरिक्ष्य इन्द्र रहता है। यहीं 'श्वा' नामक मघवेन्द्र का भी साम्राज्य है। उधर सावरण-वातशून्य-प्रान्तों-प्रदेशों-गृहों में-**'यद्वै वातो नाभि-वाति, तत्सर्वं वरुणदैवत्यम्'** के अनुसार बन्धनप्रवर्त्तक पाशाधिष्ठाता वरुणप्राण के प्राधान्य से और इन्द्र-

भी स्वस्वरूप से आवृत रहता है, एवं मरुत्वानिन्द्र (वायव्येन्द्र) का भी प्रवेश निषिद्ध रहता है। अतएव भूमाभाववञ्चित यह अल्पता दुःख का कारण बन जाया करती है! अवकाशात्मक आकाश यद्यपि स्वस्वरूप से शून्य है (इन्द्रप्राणात्मक है), तथापि नामरूपकर्म्मात्मक प्रपञ्च से इसकी शून्यलक्षणा पूर्णता पूर्णलक्षणा-शून्यता में परिणत हो जाती है। 'यद्धै पूर्णं-तत् शून्यम्, यत् शून्यं-तत् पूर्णम्' ही शून्यपूर्ण का विवेक है। जिन भौतिक प्रपञ्चों से हम आकाश को पूर्ण मान रहे हैं, वस्तुतः यह आकाश की शून्यता (अपूर्णता) है, क्योंकि यहाँ आकाश की शून्यतालक्षणा पूर्णता विषयों से आवृत रहती है। नामरूपकर्म्मात्मक इन विषयों को पृथक् कर जब आकाश तत्त्व पर दृष्टि डाली जाती है, तभी आकाश स्वपूर्णतालक्षण शून्यभाव से प्रस्फुटित होता है, तभी आकाशात्मक भूमाभाव प्राप्त होता है। इसी तत्त्व को लक्ष्य में रखते हुए श्रुति ने कहा है-**'आकाशं शून्यं कृत्वा' (नामरूपाभ्यां विमुच्येति यावत्)-(अमृतबिन्दूपनिषत्११)**

शुन इन्द्रात्मक आकाश ही पुरुषाकाश है, जो पुरुषाकाश षोडशी कहलाया है, जिसका अगले परिच्छेदों में विस्तार से उपबृंहण होने वाला है। केन्द्रगत दहराकाश में षोडशीपुरुष प्रतिष्ठित है। केन्द्रानुगत आकाशात्मक तत्त्व ही इन्द्र है। अतएव **'इन्द्रो ह वै षोडशी'** (शत० ४।५।३।१।) रूप से यह भी षोडशी कहलाया है। यही षोडशी-इन्द्रात्मक आकाशानन्द उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग-का प्रवर्त्तक बनता है। दूसरे शब्दों में भूमारूप आकाशानन्द ही विश्व का सर्वस्व है। आकाशानन्द ही रत्यानन्द का प्रवर्त्तक है। रत्यानन्दस्वरूप में परिणत होकर ही यह आकाशानन्द प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सिद्धविषय है कि, जिस दाम्पत्य सम्बन्ध में केवल विषयकामना-तुष्टि की प्रवृत्ति रहती है, दम्पती में आनन्दोल्लास नहीं रहता, वैसा निरानन्द दाम्पत्य कभी प्रजोत्पादक नहीं बन सकता। प्रजोत्पत्ति ही क्या, किसी भी लौकिक-पारलौकिक कर्म्म में बिना आनन्द को आधार बनाए प्रवृत्ति ही नहीं होती-**'यदा वै सुखं लभते करोति, नासुखं लब्ध्वा करोति'** (छां०उ०-७।२२।१)। वही आकाशानन्द भोजनादि इतर सोपाधिक आनन्दभावों में परिणत होता हुआ विश्वजीवन का कारण बनता है। वही आकाशानन्द अपने प्रातिस्विक नामरूपविमुक्त शून्यानन्दभाव में परिणत होता हुआ लय का प्रवर्त्तक बनता है, जैसाकि निम्न लिखित वचनों से प्रमाणित है—

१—**"सर्वेषां वा एतद्भूतानामाकाशः परायणम्। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव जायन्ते, आकाशादेव जातानि जीवन्ति, आकाशं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तस्मादाकाशं बीजम् (संसारमहीरुहस्य)"**—(नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषत् ३।१।)।

२—**"अस्य लोकस्य (विश्वस्य) का गतिरिति?। 'आकाश' इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति। आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्"**—(छां०उ०१।९।१)।

३३-आकाश की आनन्दरूपता—

ओमित्येतत्। इन्द्रात्मक आकाश पर सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, भङ्ग निर्भर है, मान लिया। परन्तु यह आकाश आनन्द है, यह अब तक स्पष्ट न हो सका। प्रमाणवाद से पहिले अनुभवदृष्टया समन्वय

कीजिए। आकाश तत्त्व नामरूप का प्रवर्त्तक, किन्तु स्वयं नामरूप से अतीत है। इस सिद्धान्त को मान कर आकाश की आनन्दरूपता का प्रत्यक्ष कीजिए। भोजन से आनन्द आता है, यह सर्वानुभूत विषय है। जिस मुखसुषिर में भोज्यद्रव्य प्रविष्ट होकर आनन्दके कारण बनते हैं, वह सुषिर आकाशही तो है*। जिस हस्तप्रदेशरूप आकाश में ग्रास लेकर मुखावकाश में डाला जाता है, वह हस्तावकाश आकाश है। मुखावकाश-हस्तावकाश के मध्य में प्रतिष्ठित हस्तक्रियासञ्चाराधारभूत अवकाश आकाश है। भोजनद्रव्य को पिष्टमान बनाने वाला दन्तक्रियाधारभूत अवकाश आकाश है। पिष्ट-चर्वित अन्न को गलाधःकरणानुकूलव्यापार से युक्त बनाने वाली क्रिया का आधारभूत गलनालरूप अवकाश आकाश है। निगीर्ण भोजनद्रव्य के रसप्रस्रावात्मक संघर्ष-व्यापार का आधारभूत उदररूप अवकाश आकाश है। मलनिर्गमस्थानरूप अवकाश भी आकाश है। अन्न-रसव्याप्तिप्रदेश भी आकाश है। अन्नरसग्राहक शरीरधातुओं की प्रतिष्ठारूप अवकाश भी आकाश है। स्वयं अध्यात्मसंस्था का आधारभूत शरीराकाश भी आकाश है। पार्थिव भोजनद्रव्य के कारण यव-गोधूमादि पार्थिव पदार्थ, इनका उपादान पृथिवी, पृथिवी का उपादान आपः (जल), आपः का उपादान तेज, तेज का उपादान वायु, वायु का उपादान अमृताकाशरूप इन्द्रपत्नी नामक वागाकाश (यजुराकाशरूप मर्त्याकाश), वागाकाश का आधारभूत अमृताकाशरूप-आत्माकाश। इस परम्परा से स्वयं भोजनद्रव्य भी आकाशात्मक ही है×। इसप्रकार 'भोजन आनन्द का कारण है', इस वाक्य का निष्कर्ष यही निकलता है कि, 'आकाश ही आनन्द का कारण है'। भोजनोदाहरण से ही यच्चयावत् विषयानन्दों की आकाशरूपता व्याख्यात है। दर्शनानन्द, श्रवणानन्द, भ्रमणानन्द, शयनानन्द, स्वप्नानन्द, जाग्रदानन्द, विनोदानन्द, अध्ययनानन्द, आदि आदि जितने भी विषयानन्द हैं, सब भौतिक आनन्द हैं। भौतिक पदार्थ पाञ्चमहाभौतिक हैं। सब का मूलप्रभव आकाश नामक महाभूत है। महाब्रहुत्व ही महाभूमा है। सम्पूर्ण भूत इसी आकाशरूप महाभूमा की मात्रा ले लेकर उपजीवित हैं। अतएव कहा जा सकता है कि, भूमा आकाश है, यही आनन्द है।

जब एक व्यक्ति चारों हाथ पैरों को पसार कर लेटता है, लेट कर अँगडाई लेता है, तो उसके मुख से निकल पड़ता है—'अहा बड़ा आनन्द आया'। बैठे बैठे हम हाथ पैरों को इतस्ततः किया करते हैं। दक्षिणाङ्ग के थक जाने पर वामाङ्ग के सहारे, वामाङ्ग के थक जाने पर दक्षिणाङ्ग के सहारे, कभी शिर के सहारे, कभी पीठ के बल, कभी घुटनों के बल बैठ जाते हैं। सभी क्रियाएँ आनन्दप्रद हैं, शान्तिप्रद हैं। परन्तु इन सबका मूलाधार आकाशानन्द ही है। यदि अवकाशात्मक आनन्द न हो, तो हमारा प्राणन-अपान व्यापार सर्वथा अवरुद्ध हो जाय। कारावास में भूमाकाश-आनन्द हम से छीन लिया जाता है। व्यापक भूमाकाश को अल्प बनाने वाली चहार-दीवारी, परिमित भोजन, अहर्निश नियन्त्रण-द्वारा हमारी भूमावृत्तियों का निरोध, ये

---

* यत्-सुषिरं, तदाकाशम्-(गर्भोपनिषत्) १।

× "तस्माद्वा एतस्मादात्मनः (अमृताकाशात्) आकाशः (मर्त्याकाशः, भूताकाशः) सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः"। (तै०उप०अ०व०१)।

सब अल्पताएँ हीं तो दुःख का कारण बनतीं हैं। न्यायालयरूप अल्पसीमारूप दुःखात्मक नियन्त्रण से निकल कर जब कर्म्मचारी अवकाश (छुट्टी) रूप आकाशभूमा में आते हैं, तो उनका चेहरा खिल पड़ता है। जब हम पीछे, सामने, उभय पार्श्वों में, ऊपर, दृष्टि डालते हैं, तो सर्वत्र भूमाकाश के ही दर्शन करते हैं। विश्वास कीजिए, यह भूमाकाश ही साक्षात् आनन्द है, जिसकी अनन्तता हमें आनन्दविभोर बना रही है। कल्पना कीजिए, यदि आपके मस्तक के ऊपर एक दो वितस्ति (बिलाद) के अन्तर पर ही ईश्वर के द्वारा कोई आवरण लगा दिया जाता, तो आपकी क्या स्थिति होती ! । दम घुट घुट कर क्या हो जाता, प्रश्न का विचार ही छोड़िये +। तत्त्वतः निष्कर्ष यही निकला कि, भूमा सुख है, यह भूमा ही आकाश है। आकाश ही आनन्द है। एवं अल्पता ही दुःख है।

३४–भयप्रवर्त्तक उदरभाव—

भूमादृष्टि अमृतदृष्टि है, अल्पदृष्टि मर्त्यदृष्टि है। अमृतदृष्टि एकदृष्टि है, समदृष्टि है, आत्मदर्शन है। मर्त्यदृष्टि नानादृष्टि है, विषमदृष्टि, विषयदर्शन है। समदर्शनरूप अमृतात्मक भूमाभाव आनन्द का प्रवर्त्तक है, विषमदर्शनरूप मर्त्यात्मक अल्पभाव दुःख का जनक है। भूमोपासना से अभयसम्पत्ति प्राप्त होती है। इस भूमाकाश में जब नामरूपकर्म्ममय विषयों का समावेश हो जाता है, तो भूमा इस व्यवधान से अल्पता में परिणत हो जाती है। यह मेरा, यह पराया, यह प्रेमी, यह द्वेषी, इसप्रकार के उदर (व्यवच्छेद) ही भय के प्रवर्त्तक बनते हैं–**'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भयं भवति'**। उत्तरोत्तर अल्पता का अनुगमन अधिकाधिक दुःख-प्रवृत्ति का कारण है। उत्तरोत्तर भूमानुगमन अधिकाधिक आनन्दविकास का हेतु है। जिनकी दृष्टि संकुचित है, वाणी संकुचित है, मनोराज्य संकुचित है, स्वार्थ स्वपरिवारमात्र में सीमित है, वे भूमाकाशसम्पत् से बञ्चित रहते हुए दुःखी हैं। ठीक इसके विपरीत उदारदृष्टि, उदारवाणी, उदाराशय, सर्वभूतहिते रताः महामना पुरुष भूमाकाश से युक्त रहते हुए सुखी हैं। अपनी आत्मभूमा हीं सुख का कारण है, अपनी आत्माल्पता ही दुःख का कारण है। हम स्वयं ही आत्मभूमा के द्वारा सुखी हैं, आत्माल्पता के द्वारा दुःखी हैं। जो भूमा है, वह अल्प नहीं, जो अल्प है–वह भूमा नहीं। पुनः आत्मतत्त्व भूमा, तथा अल्प, इन दोनों विरुद्ध भावों से कैसे व्यवहृत किया गया ?, यह एक प्रासङ्गिक प्रश्न है।

३५–साक्षी, और भोक्ता सुपर्ण का सम्बन्ध–

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ०' सिद्धान्तानुसार अध्यात्मसंस्था में साक्षी ईश्वरसुपर्ण, भोक्ता जीवसुपर्ण, ये दो तत्त्व प्रतिष्ठित हैं। साक्षीसुपर्णरूप ईश्वरात्मा सच्चिदानन्दलक्षण परिपूर्ण भूमाकाशरूप है, सर्वत्र अविशेष है, अंशी है। भोक्ता सुपर्णरूप जीवात्मा अविद्या–काम–कर्म्मादि पाप्माओं से आवृत रहता हुआ अपनी उभ-वात्मानुगता स्वतःसिद्ध भी पूर्णता से वञ्चित रहता हुआ अल्पाकाशरूप है। इसकी यह कृत्रिम पाप्मानुगता अल्पावरणता उस दशा में और भी अधिक प्रवृद्ध हो जाती है, जबकि यह अन्तर्मुखानुगति (भूमाकाशात्मिका ईश्वरात्मप्रवणता) को छोड़ कर इन्द्रियद्वारा अल्पविषयानुगति में आसक्त हो जाता है। इसके सामने दो मार्ग हैं। विषयासक्त बन कर यह अपने स्वाभाविक भूमाकाश को अल्प बना कर दुःखी बना रहे, यह एक

+ "को ह्येवान्यात्, कः प्राण्यात्, यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्"।

मार्ग है । ईश्वरासक्त बन कर यह अपने आपको भूमाकाशरूप से विकसित करता हुआ नित्य सुखी बना रहे, यह एक मार्ग है । यह स्वयं 'स्व' (आप) है, इस स्व का स्व ईश्वरात्मा है । 'अपने आप ही आत्मा अपना बन्धु है, अपने आप ही आत्मा अपना शत्रु है' । इस वाक्यसन्दर्भ में पठित **'अपने'** शब्द जीवात्मा को लक्ष्य बना रहा है, एवं **'आप ही'** शब्द ईश्वरात्मा की ओर सङ्केत कर रहा है । उस अपने (जीवात्मा) का आपा वही (ईश्वरात्मा) है, यही 'अपने-आप' का रहस्य है । 'आत्मा से आत्मा का उद्धार करना चाहिए' यहाँ उद्धार करने वाला ईश्वरात्मा है, उद्धरणीय आत्मा जीवात्मा है । **'आत्मानं-आत्मना उद्धरेत्'** का—**'जीवात्मानं ईश्वरात्मना उद्धरेत्'** ही निष्कर्ष है । **'नात्मानमवसादयेत्'** का आत्मानं—**जीवात्मानं** है । 'आत्मैव' से ईश्वरात्माका ग्रहण है । **आत्मनो बन्धुः** के आत्मनः से जीवात्मा गृहीत है । वही ईश्वरात्मा विषयासक्त जीवात्मा का शत्रु है, वही ईश्वरात्मा स्वासक्त जीवात्मा का मित्र है । जिस जीवात्मा ने ईश्वरात्म-विभूतिद्वारा अपने आपको जीत लिया है, विषयासक्ति से पृथक् कर लिया है, उस जीवात्मा का वह ईश्वरात्मा वास्तव में बन्धु (अनुग्राहक-मृत्युसंसारसमुद्धारक) बन जाता है । जो उस ईश्वरात्मा की उपेक्षा कर विषया-त्यन्तावरणों से अपने स्वरूप को अनात्म-विषयवत् जड़ बना लेता है, उस जीवात्मा पर कभी ईश्वरात्मा का अनुग्रह नहीं होता । अपितु वह इसके साथ शत्रुवत् ही व्यवहार करने लगता है । तात्पर्य्य-ईश्वरात्मा भी भूमा है, तदंशभूत जीवात्मा भी स्वस्वरूप से भूमा ही है । परन्तु यह विषयासक्ति से अल्पता में परिणत होता हुआ दुःखी बन जाता है । आत्मभूमा (ईश्वरभूमा) की अनुगति, विषयाल्पता का परित्याग ही इस विषयासक्त आत्मा की अल्पता का निवारिका है । निम्न लिखित वचन इसी रहस्य का विश्लेषण कर रहे हैं—

उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् ॥
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥१॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ॥
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥ गीता ६।५, ६, ।

३६—मानव की सहज आनन्दरूपता—

हृदयस्थित आत्मनन्द ही घनानन्द है, इतर आनन्दमात्रा इसी के अंश-प्रत्यंशरूप हैं । मात्रानन्ददृष्टया वही समृद्धानन्दरूप में परिणत हो रहा है, घनदृष्टया वही शान्तानन्दरूप में परिणत हो रहा है । शान्तानन्द आत्मानन्द है, समृद्धानन्द विश्वानन्द है । विश्वानन्द मीमांस्य है, वास्तविक-शान्तिलक्षण आनन्द आत्मा-नन्द है । इसी की प्रतिच्छाया से ऐन्द्रियक विषय आनन्दप्रवृत्ति के कारण बनते हैं । साधारण मनुष्य समझते है कि, विषय आनन्द के कारण हैं । तत्त्व वास्तव में यह है कि, आत्मानन्द को ऋण रूप से ले कर विषय आनन्दी बन रहे हैं । स्मरण कीजिए,–उस अव्यक्तादि, विषयान्त–परम्परा का, जिसमें मूलप्रदेशस्थ घनानन्द-मूर्त्ति उक्थरूप आत्मानन्द के अर्करूप मात्राभावों का क्रमिक अवतरण बतलाया गया है । वैश्वानर-तैजस–प्राज्ञमूर्त्ति भूतात्मा ही जीवात्मा है । यह आनन्द से उत्पन्न होने के कारण आनन्द का स्वाभाविक इच्छुक है । आनन्द इसका अपना स्वरूप है, अतएव आनन्दकामना स्वाभाविक है । यच्चयावत् कर्म्म–विषय-भोगादि प्रवृत्तियों में आनन्दकामना ही कारण है । यदि दुःख भी आत्मा का स्वरूप होता, तो उसके लिए भी आत्मा की प्रवृत्ति देखी सुनी जाती । एक व्यक्ति आत्मघात में प्रवृत्त होना चाहता है ।

आत्मघात-व्यापार महद्दुःखपूर्ण है। क्या यह प्रवृत्ति भी आनन्दमूला है ?, अवश्य। मृत्यु की अपेक्षा यह आत्मघाती जीवनदशा में अधिक दुःख का अनुभव कर रहा है। अतिशय सांसारिक कष्टों से, दुःखों से त्राण पाना ही आत्मघात का निमित्त बन रहा है। आत्मघात में क्षण भर के लिए जो दुःख होता है, वह जीवन-दुःखों से कहीं अल्प है। उसके सामने वह आत्मघात सुखप्रवर्त्तक बना हुआ है। इसप्रकार यहाँ भी तत्त्वतः आनन्द ही तत्कर्म्मप्रवृत्ति का कारण बन रहा है। आत्मघात में आत्मघाती की इच्छापूर्वक प्रवृत्ति है। परन्तु ऐसे भी उदाहरण उपलब्ध होते हैं, जहाँ अनिच्छापूर्वक भी मृत्यु के लिए पैर बढ़ाने पड़ते हैं। निरपराध को, किंवा सापराध व्यक्ति को वधदण्ड मिलता है। वधस्थल की ओर वधिक उसे ले जा रहे हैं। वह चुपचाप वधस्थल की ओर पैर बढ़ रहा है, प्रवृत्त हो रहा है। अनिच्छापूर्वक भी क्या प्रवृत्ति सम्भव है ?, नहीं। बिना इच्छा के, कामना के तो कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। वध्य की अनिच्छा को इच्छारूप में परिणत करना पड़ता है-स्वयं वध्य को ही। क्यों ?, आनन्द जो प्रवृत्ति का कारण है। क्या वध से उसे आनन्द मिलेगा ?, नहीं। तो क्यों वधस्थल की ओर प्रवृत्ति हुई ?, इसलिए कि-वध्य जानता है-यदि वह चुपचाप बिना उपद्रव किए वधस्थान की ओर अग्रेसर न हुआ, तो वध से पहिले ही वह भयङ्कर अनुशासन-ताड़न से ताड़ित किया जायगा। इस प्रासङ्गिक दुःख से त्राण पाने के लिए ही वह वधस्थल की ओर अग्रेसर होता है। इसप्रकार यहाँ भी आनन्द ही प्रवृत्ति का कारण बन रहा है। कर्णाकर्णि सुना जाता है-लोग सदा अपने आपको 'दुःखी' बताया करते हैं, और कहा करते हैं कि, हम बड़े दुःखी हैं। तत्त्वतः उद्गार निस्तत्त्व हैं। मनुष्य, मनुष्य ही क्या प्राणीमात्र जब तक जीता है, सुख से ही जीता है। उसका जीवित रहना ही इस बात का प्रमाण है कि, उसके हृदय में आनन्द तत्त्व अभी तक प्रतिष्ठित है। **जिस दिन सोपाधिक आनन्दमात्रा निःशेष हो जायगी, उस दिन विशुद्ध निरुपाधिक शून्यानन्द प्रस्फुटित हो जायगा। शरीर का समवलय हो जायगा।** इसप्रकार यह सिद्ध विषय है कि, आनन्द ही सर्वविध प्रवृत्तियों का **मूलकारण** है। **यही** इस बात का सर्वोत्कृष्ट प्रमाण है कि, हम आनन्दमय हैं, आनन्द ही हमारा स्वरूप है।

३७-भूमा, और अल्पता का तारतम्य--

अल्पता की पूर्णता के लिए कामना का उदय होता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए भी कामना होती है, प्राप्त वस्तु की समृद्धि के लिए भी कामना होती है। आनन्दकामना इस दूसरी श्रेणि से ही सम्बन्ध रखती है। आत्मा पहिले से ही मात्रानन्द से युक्त है। इस अल्पानन्द की पूर्णता के लिए इसकी आनन्द-कामना का काममय मन के द्वारा निर्गमन होता है। यहीं बात थोड़ी समझने की है। अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान, इन्द्रिय, इन्द्रियार्थ, इन ६ आध्यात्मिक पर्वों में से सुखदुःखभोगभोक्ता जीवात्मा (भोक्तात्मा) प्रज्ञानमन, और इन्द्रियवर्ग, इन दोनों चौथे-पाँचवें पर्वों के मध्य में प्रतिष्ठित रहता है। यह स्वाभाविक-प्राकृतिक स्थिति है। प्रज्ञानरूप मन के द्वारा मध्यस्थ भोक्तात्मा की कामना किस ओर जाय ?, यह विजिज्ञास्य है। दो मार्ग हैं इस मानस कामना के अनुधावन के। बुद्धिरूप विज्ञान की ओर भी कामना का गमन सम्भव है, इन्द्रियद्वारा विषय की ओर भी कामनागमन सम्भव है। विज्ञान की ओर यदि कामना जाती है, तो मनोद्वारा जीवात्मा को स्वानुरूप घनानन्द मिल जाता है। क्योंकि मन की अपेक्षा तत्पूर्वस्थ विज्ञान (बुद्धि) में अधिक आनन्दमात्रा है। यह भूमानन्द क्षोभरहित है। अतएव तद्युक्त मन शान्त बना रहता है। मान लीजिए-मन विज्ञानानन्द की ओर न जा कर इन्द्रियों के द्वारा विषयानन्द की ओर प्रवृत्त हुआ, जो विषयप्रवृत्ति

पार्थिव शरीरापेक्षया भी प्रधान है, एवं निर्गमनद्वारभूत इन्द्रियों की बहिर्मुखता के कारण भी सुगम-स्वाभाविक* है,-तो इस बहिर्गमन से मनोद्वारा जीवात्मा को सोपाधिक, साथ ही अल्पानन्द प्राप्त होता है। क्योंकि मन की अपेक्षा तदुत्तरस्थ इन्द्रियों में अल्पानन्दमात्रा है, तदपेक्षया विषयों में तो और भी स्वल्पानन्दमात्रा है। स्थितिलक्षणा तृप्ति अपने से अधिक आनन्द में, भूमानन्द में है। आत्मानन्द की मात्रा से युक्त मन इन्द्रियों की स्वल्पानन्दमात्रा को ऋण रूप से ग्रहण करके स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहने वाले विषयों में वह भूमा कहाँ, जो स्वापेक्षया भूमानन्दमात्रामय मन को तृप्त कर सके। अभिलषित भूमानन्द की खोज के लिए मन किसी विषय पर गया, वहाँ उसे अपने से भी स्वल्पानन्द मिला, उसे छोड़ कर अन्य विषय का अनुधावन किया, वहाँ से भी उसी कारण से निराश लौटना पड़ा। व्यग्रता बढ़ी। विषयानुधावनसंवेग प्रवृद्ध हुआ, उसी अनुपात से व्यग्रता भी उत्तरोत्तर बढ़ती गई। यही मनश्चाञ्चल्य का कारण बनी। गया था मन अभिलषित भूमानन्द लेने, वह तो मिला नहीं, मिल भी नहीं सकता था। मिला तो क्षोभ मिला, अशान्ति मिली, जिस अशान्ति को विषयानन्दविज्ञाता 'समृद्धानन्द' कहा करते हैं। जो सर्वथा क्षणभावापन्न बनता हुआ अन्ततोगत्वा दुःखानुभूति का ही प्रवर्त्तक बन जाता है। तभी तो विषयभुक्त्यनन्तर अरति उत्पन्न हो जाती है। बुद्धियोगानुगत आत्मा भूमानन्द है, यही अमृत है। विषयभोगानुगत आत्मा अल्पानन्द है, विषयानन्द है, यही मृत्यु है। दोनों में कौन उपादेय है ?, प्रश्न का उत्तर विवेकियों पर ही निर्भर है। द्वैतानुभूति, नाम-रूप-कर्म्मात्मिका नानाभावात्मिका विषयासक्ति ही अल्पता है, यही मर्त्यभाव है। अद्वैतानुभूति ही भूमा है, यही अमृतभाव है ÷।

३८-आत्मानुगत त्यागलक्षण क्षीणोदर्कमार्ग-

उक्त आनन्दस्वरूपमीमांसा से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, मूलप्रदेशस्थ आत्मानन्द की प्राप्ति ही दुःखात्यन्तनिवृत्ति का अन्यतम उपाय है। बिना उसके योग के दुःखात्यन्तनिवृत्ति असम्भव है। इसका हमनें यह तात्पर्य्य समझा कि, मात्रानन्दात्मक विषयों का आत्यन्तिकरूप से परित्याग कर देना चाहिए। विषयपरित्यागपूर्वक इन्द्रियसंयम के द्वारा मन का बहिर्गमन रोक देना चाहिए। इसप्रकार सर्वप्रथम इन्द्रिय-संयमद्वारा वाङ्मय अर्थों (विषयों) का, अर्थसंयमद्वारा मन का संयम करना चाहिए। मन को विज्ञानात्मा में, विज्ञानात्मा को महानात्मा में, महानात्मा को अव्यक्तात्मा में लीन कर देना चाहिए। सर्वान्त में रह जायगा घनानन्दरूप पुरुषात्मा। उसमें जीवभाग का अप्यय कर देना चाहिए। यही आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एक दुरधिगम्य-क्लेशावह वह उपाय है, जिसे 'इन्द्रियधारणलक्षणयोग' कहा गया है, जिसे विज्ञानभाषा में 'क्षीणोदर्कमार्ग' कहा जाता है। विषयों के परित्यागपूर्वक उत्तर-उत्तर

---

*-पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्य चक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ १।४।)

÷-"यत्र नान्यत् पश्यति-शृणोति-विजानाति-स भूमा। अथ यत्रान्यत्-पश्यति-शृणोति-विजानाति-तदल्पम्। यो वै भूमा, तदमृतम्। यदल्पं-तन्मर्त्यम्"।
—छां० उ० ७।२४।१।

खण्डात्मपर्व का पूर्व-पूर्व खण्डात्मपर्व में संयम करते हुए अन्ततोगत्वा अखण्डात्मा में लीन हो जाना ही नित्यानन्दप्राप्ति का एक उपाय है, जिसका निम्नलिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

क्षीणोदर्कमार्गः—यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ॥
(अव्यक्तनिष्ठा) ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥१॥
—कठ० १।३।१३।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ॥
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥२॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ॥
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥३॥
—कठ० ६।१०,११, ।

अशब्द–मस्पर्श–मरूप–मव्ययं तथाऽरसं–नित्यमगन्धवच्च ॥
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥४॥
उत्तिष्ठत ! जाग्रत ! ! प्राप्य वरान्निबोधत ! ! !
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥५॥
—कठ० १।३।१५,१४, ।

'न विचेष्टते'–'स्थिरामिन्द्रियधारणाम्'–'निचाय्य तन्मृत्युमुखात्' इत्यादि वाक्य क्षीणोदर्क (क्षीणपरिणाम) का ही समर्थन कर रहे हैं। निवृत्तिपथ ही इस उदर्क का निष्कर्ष है, जिसमें क्रमशः सब का परित्याग करते हुए सर्वान्त में निष्कैवल्यभाव की प्राप्ति है। इस मार्ग के पथिक योगी लोकसंग्रह से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। अपितु लोक-सम्प्रदाय से विदूर-शून्य अरण्यों में कायक्लेशपूर्वक योगपद्धतियों का अनुगमन करते हुए शरीरमात्रोपजीवी बने रहते हुए अन्त में निर्वाणपद प्राप्त कर अपने आपको मुक्त कर लेना ही इस मार्ग का प्रधान पुरुषार्थ है। संसार को ऐसे योगियों से कोई लाभ नहीं है। साथ ही मार्ग भी सर्वसाधारण के लिए अवरुद्ध है, क्योंकि विषयों का परित्याग कर देना सहज नहीं है। साथ ही परित्याग की भावना कर पुनः मनसा भी उनका संस्मरण कर लेना पूर्वस्थिति से भी अपने आपको गिरा लेना है। इसी लिए कविगण (महर्षि) इसे क्षुरस्य धारा-निशिता दुरत्यया कहा करते हैं। गीताशास्त्र ने भी निम्न लिखित शब्दों में इस क्षीणोदर्कपथ का समर्थन किया है—

(१)—योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ॥
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१॥
शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ॥
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥२॥

तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ॥
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥३॥

—गीता० ६।१०,११,१२,

(२)—सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥१॥

—गीता० ८।१२।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ॥
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥२॥

—गीता० १२।५।

३९-अध्ययात्मानुगत उपनिषत्सम्मत भूमोदर्कमार्ग—

दूसरा है-भूमोदर्कमार्ग। किसी के भी परित्याग की आवश्यकता नहीं है। केवल सब में सदा आत्म-भावना-दृष्टि का अनुगमन अपेक्षित है। विषयानन्द हो, अथवा आत्मानन्द, उभयत्र आनन्द स्वस्वरूप से आनन्द ही है। आनन्दत्वेन वही आत्मा विषय है, दृश्य है। वही विषयी है, द्रष्टा है। विषय को विषयदृष्टि से न देख कर आत्मानन्ददृष्टि से देखिए। इसके अतिरिक्त जिस मात्रानन्दषट्क की सत्ता अध्यात्मसंस्था में है, अधिदैवत में है, अधिभूतसंस्था में भी तो वह संस्था विद्यमान है। जिस विषय को हम सर्वथा जड़ समझते हैं, उसमें भी मात्रानन्द, और घनानन्द ज्यों के त्यों प्रतिष्ठित हैं, जैसाकि आगे स्पष्ट किया जाने वाला है। विषय इन्द्रियभुक्त आनन्दमात्रा से जब तक भुक्त रहेंगे, तभी तक अतृप्ति रहेगी। जहाँ स्वयं विषयगर्भीभूत घनानन्दलक्षण आत्मानन्द पर दृष्टि गई नहीं कि, तृप्तिभाव उदित हुआ नहीं। सब में प्रवृत्त रहिए, परन्तु आत्मदृष्ट्या। लोकसंग्राहक यच्चयावत् कर्म्मों का अनुगमन कीजिए, परन्तु आत्मसमर्पणलक्षण बुद्धियोग के द्वारा। सर्वत्र समदर्शनपूर्वक होने वाला विषमवर्त्तन विषयसंग्राहक रहता हुआ भी निर्विषयक बना रहता है। यही प्रवृत्तिपथ में निवृत्ति की प्राप्ति है, यही बुद्धियोगरहस्य है, यही गीताराद्धान्त है, यही भूमोदर्कपक्ष है, जिसका विश्लेषण ही इस परीक्षाखण्ड का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है।

४०-सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्त्तभाव—

प्रासङ्गिक आनन्दमीमांसानन्तर पुनः प्रकृत की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। बतलाया गया है कि, ब्रह्म के सत्-चित् पर्वों की भाँति आनन्दपर्व भी आबाल-वृद्ध-वनिता, सब के लिए प्रत्यक्षानुभूत तत्त्व है। इस आनन्दतत्त्व के भी सत्-चित्-पर्वों की भाँति आत्मानन्द, स्वानन्द, परानन्द, भेद से तीन ही विवर्त्त हैं। इन्द्रियानुगत-आगन्तुक विषयानन्द परानन्द है, यही अनुकूलवेदनात्मक सुख है, इसे ही हमनें पूर्व में समृद्धानन्द कहा है। ईश्वरात्मांशभूत जीवात्मानुगत जीवनसत्तोपयिक स्वरूपसंस्थापक-रक्षक आनन्द स्वानन्द है। एवं केन्द्रस्थ पुरुषात्मक घनानन्द आत्मानन्द है। आत्मानन्द भूमानन्द है, यही शान्तानन्द है, नित्यानन्द है। शान्तानन्दरूप आत्मानन्द, एवं समृद्धानन्दरूप विषयानन्द (परानन्द), दोनों के मध्यम में प्रतिष्ठित स्वानन्दलक्षण जीवात्मा यदि भूमानन्दरूप आत्मानन्द का अनुगामी है, तो इसका स्वानन्द आत्मानन्दरूप में परिणत हो जाता है। यदि विषयानन्दरूप

समृद्धानन्द का अनुगामी है, तो यही स्वानन्द परानन्दरूप में परिणत हो जाता है । आत्मानन्द ही मात्रा-अंश-रूप से स्वानन्द बना है । आत्मानन्द ही मात्रारूप से परानन्द बना है । तत्त्वतः आनन्दत्वेन तीनों एक ही आनन्द हैं । एवं तीनों का शान्ति-समृद्धिरूप से हमें अनुभव होता रहता है । स्वस्थदशा की शान्ति आत्मानन्दानुभव है, वित्तपरिग्रहजनिता समृद्धि का अनुभव विषयानन्दानुभव है । यही ब्रह्म के आनन्दपर्व के साक्षात् दर्शन हैं । यही आनन्दपर्व की सर्वानुभूति का संक्षिप्त निदर्शन है ।

सर्वत्र 'अस्तित्व का बोध आप प्राप्त कर रहे हैं' । यही सच्चिदानन्द के दर्शन हैं । 'अस्तित्व' 'सत्' है, बोध चित् है, प्राप्त तत्त्व रसात्मक आनन्द है । इस दृष्टि से क्या आप ब्रह्म के साक्षात्‌रूप से दर्शन नहीं कर रहे !, अवश्य कर रहे हैं । सत्-चित्-आनन्द, तीनों के तीनों पर्व परस्पर समतुलित हैं । परसत्ता, परज्ञान, परानन्द, यही विषयात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म है । स्वसत्ता, स्वज्ञान, स्वानन्द, तीनों की समष्टि जीवात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म है । आत्मसत्ता, आत्मज्ञान, आत्मानन्द, तीनों की समष्टि ईश्वरात्मक सच्चिदानन्द-ब्रह्म है । सच्चिदानन्देश्वरतत्व ही अधिदैवतसंस्था का अध्यक्ष है । सच्चिदानन्दजीव ही अध्यात्मसंस्था का अध्यक्ष है । सच्चिदानन्दशिपिविष्ट ही अधिभूतसंस्था का अध्यक्ष है । इसप्रकार एक ही सच्चिदानन्दघन निष्कल पुरुष अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत, रूप से तीन विवर्तभावों में परिणत हो रहा है । अधिभूत-विवर्त जगत् है, अध्यात्मविवर्त जीव है, अधिदैवतविवर्त **ईश्वर** है, यही विशिष्टाद्वैतवादियों का विशिष्टाद्वैत है, जो इस सोपाधिक दृष्टि से मान्य कहा जा सकता है * । यही तत्त्वत्रयी विज्ञानभाषा में **'त्रिसत्याद्वैतवाद'** नाम से प्रसिद्ध हुई है ।

***-इत्थं स्वरूपात् पृथगस्ति विश्वं जीवात्मक्लृप्तानि जगन्ति सन्ति ॥**
जीवा जगन्मूलतया च सन्ति प्रभुश्च तेषामयमीश्वरोऽस्ति ॥१॥
जडाश्च, जीवाश्च, तथेश्वरश्च, त्रिभिर्विशिष्टं यदिहैकरूपम्-॥
तद्ब्रह्म, तच्च द्विविधं परं चावरं च नातः परमस्ति किञ्चित् ॥२॥

सच्चिदानन्दब्रह्मणो–विवर्त्तभावाः–(ब्रह्मैवेदं सर्वम्–इति सञ्चरविदः प्राहुः)

सच्चिदानन्दब्रह्म — चि — स

- १
  - १–आत्मसत्ता (निरपेक्षप्रतिष्ठा–'सत्ता'–ईश्वरानुगता) (अधिदैवतम्)
  - २–स्वसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा—'धृतिः'–जीवानुगता) (अध्यात्मम्)
  - ३–परसत्ता (सापेक्षप्रतिष्ठा—'विधृतिः'–विषयानुगता) (अधिभूतम्)
  - } सत् (१)
- २
  - १–आत्मज्ञानम् (निरपेक्षचेतना–'महत्-ज्ञानम्'–ईश्वरानुगतम्)-अधिदैवतम्
  - २–स्वज्ञानम् (सापेक्षचेतना–'विज्ञानज्ञानम्'-जीवानुगतम्)–(अध्यात्मम्)
  - ३–परज्ञानम् (सापेक्षचेतना–'प्रज्ञानज्ञानम्'-विषयानुगतम्)–(अधिभूतम्)
  - } चित् (२
- ३
  - १–आत्मानन्दः (निरपेक्षरसः–'शान्तिः'–ईश्वरानुगता)–अधिदैवतम्)
  - २–स्वानन्दः (सापेक्षरसः–'आनन्दः'–जीवानुगतः)– अध्यात्मम्)
  - ३–परानन्दः (सापेक्षरसः–'समृद्धिः'–विषयानुगता)–(अधिभूतम्)
  - } आनन्दः (३)

(१) ईश्वरविवर्त्तः—

- १–आत्मसत्ता (सत्)
- २–आत्मज्ञानम् (चित्)
- ३–आत्मानन्दः (आनन्दः)
- } ईश्वरः–इति ह्यधिदैवतम्

❀ ❀ ❀

(२) जीवविवर्त्तः—

- १–स्वसत्ता (सत्)
- २–स्वज्ञानम् (चित्)
- ३–स्वानन्दः (आनन्दः)
- } जीवः–इति ह्यध्यात्मम्

* * *

(३) जगद्विवर्त्तः—

- १–परसत्ता (सत्)
- २–परज्ञानम् (चित्)
- ३–परानन्दः (आनन्दम्)
- } जगत्–इति ह्यधिभूतम्

"तस्माद्–युक्तेन्द्रियग्रामो युक्तचित्त इदं जगत् ।
आत्मनीक्षस्व विततं, मात्मानं मय्यधीश्वरे" ॥
श्रीमद्भागवत् ११।७।६।

सैषा–जगज्जीवेश्वराणां त्रयाणामेषाम्–ऐक्यभावना
(सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति प्रतिसञ्चरविदः प्राहुः) ।

४१-एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म—

सर्वानुभूत सच्चिदानन्दब्रह्म ही निष्कल ब्रह्म है, जिसका सर्वारम्भ में उपक्रम किया गया है। "वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान सभी को आनन्दी बनाता है" यह वाक्य ही सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वानुभूति का स्पष्टीकरण कर रहा है। यह निष्कल ब्रह्म ही विश्व का प्रधान आरम्भक माना गया है। कौनसा सच्चिदानन्द ?। प्रश्न इसलिए हुआ कि पूर्व में निरपेक्ष, सापेक्ष-भेद से इसके तीन विवर्त्तों का स्पष्टीकरण हुआ है। जीवानुगत सच्चिदानन्द (आध्यात्मिक), एवं विश्वानुगत सच्चिदानन्द (आधिभौतिक), दोनों हीं सापेक्ष हैं, दोनों ही उद्बुद्ध हैं, अनुभूत हैं। निरपेक्ष ईश्वरानुगत सच्चिदानन्द विषयोपहित है, शेष दोनों विषयावच्छिन्न हैं। विषयावच्छिन्न उद्बुद्ध सच्चिदानन्द केवल व्यष्टिरूप तद्विषय का आरम्भक बनता है, समष्टिरूप यच्चयावत् विषयों का नहीं। घट का अस्तित्व, ज्ञान, रस (आनन्द) पट के अस्तित्वादि से विभिन्न है। घटाभाव में भी पट का अस्तित्व अक्षुण्ण रहता है। पट के अस्तित्व का, पटानुगत सच्चिदानन्द का घटास्तित्व से कोई सम्बन्ध नहीं है। घटविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द घट का आरम्भक है, पटविषयक विद्यमान सच्चिदानन्द पट का आरम्भक है। अतएव विषयावच्छिन्न-सोपाधिक-नामरूपकर्म्मानुग्राहक-सापेक्ष-उद्बुद्ध इस सच्चिदानन्द को सम्पूर्ण विश्व का, समष्टि का, यच्चयावत् व्यक्तियों का आरम्भक नहीं माना जा सकता। विश्वोपहित-निरुपाधिक-नामरूपकर्म्मातीत-निरपेक्ष-उन्मुग्ध सच्चिदानन्द ही समष्टि का आरम्भक बन सकता है। यदि वह न रहे, तो कोई भी सदसत् पदार्थ न रहे। वही भावास्ति है, वही अभावास्ति है, सर्वत्र एकरसरूपेण व्याप्त है। 'अस्ति' 'नास्ति' सर्वत्र उस का साम्राज्य है। घटसत्ता घट में ही है, घटाभाव, किंवा पटभाव में घटसत्ता नहीं है। परन्तु यह सामान्य सत्ताब्रह्म घट में भी है, घटाभाव में भी है, पटभाव में भी है। सर्वत्र एकरसरूप से व्याप्त रहने के कारण ही तो यह उन्मुग्ध सच्चिदानन्दब्रह्म 'निष्कल' कहलाता है। नाम-रूप ही कलाभाव के प्रवर्त्तक हैं। वह इनसे अतीत, अतएव निष्कल है। अतएव इसका **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म-नेह नानास्ति किञ्चन'** यह लक्षण किया जाता है।

४२-सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदशून्य अखण्ड-अद्वय-ब्रह्म—

सजातीय, विजातीय, स्वगत, तीनों भेदों से वह अतीत है। नानारूप कलाभावों से वह असंसृष्ट है, अतएव 'एकम्'-'एव'-'अद्वितीयम्' ये तीन विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। एक आम्रवृक्ष अन्य आम्रवृक्ष से विभिन्न है, यही सजातीयभेद है। आम्रवृक्ष वटवृक्ष से विभिन्न है, यही विजातीयभेद है। एक आम्रवृक्ष के आम्र-मूल, आम्रशाखा, प्रशाखा, मञ्जरी, पत्र, फल, आदि परस्पर भिन्न हैं, यही स्वगत-(अपने आप में रहनेवाला)-भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीयभेद है, मनुष्य-पशु का भेद विजातीयभेद है, एक ही मनुष्य-शरीर में रहने वाला हस्त-पाद-उदर-उर-शिर-कर्ण-नासिका-आदि भेद स्वगतभेद है। व्यापक ब्रह्म जैसे अन्य और किसी ब्रह्म का अभाव है, इसलिए वह सजातीयभेदशून्य है। नाहीं ऐसे ही व्यापक अन्य स्वरूपयुक्त किसी अन्य व्यापक ब्रह्म की सत्ता है, अतएव यह विजातीयभेदशून्य है। इसमें स्वयं में भी अवयवाभाव है, अतएव यह निष्कल है, अतएवच स्वगतभेदशून्य है। 'एकम्' विशेषण सजातीयभेद का, 'एव' विशेषण विजातीयभेद का, एवं 'अद्वितीयम्' विशेषण स्वगतभेद का व्यावर्त्तक बन रहा है।

४३--स्वगतभेदमूला आपत्ति, और तन्निराकरण—

माना कि, ब्रह्म सजातीय, विजातीयभेदशून्य है, परन्तु इसे स्वगतभेदशून्य कैसे कहा जा सकता है !, जब कि इसके-'सत्-चित्-आनन्द' ये तीन अवयव हैं, कला हैं। अतएवच इसे निष्कल भी क्यों कर माना जा सकता है ! । प्रश्न का उत्तर भातिभाव पर निर्भर है। कलाभेद का नियामक भातिभेद नहीं, अपितु सत्ताभेद माना गया है। एक ही व्यक्ति अपेक्षया अपने पुत्र का पिता, पिता का पुत्र, सेवक का स्वामी, स्वामी का सेवक, न्यायालय का न्यायाध्यक्ष, आदि अनेकरूप से प्रतीत हो रहा है। इन अनेक भाति-भेदों के रहने पर भी सत्तानुगत ऐक्य सुरक्षित है। रङ्गरजित वस्त्र को सूत-तूल (रूई)-कपास-मिट्टी-पानी-अग्नि-वायु-आकाश-प्राण-मन-विज्ञान-आनन्द-सभी दृष्टियों से देखा जा सकता है। सब का भान तात्त्विक है। क्योंकि पूर्व-पूर्व भाति का आधार उत्तर उत्तर भाति बन रही है। एक ही आत्मसत्ता-पटल पर सूत-तूलादि अनेक भातियाँ प्रतिष्ठित हैं। इन अनेक भातियों के रहने पर भी सत्त्वैक्यात् वस्त्र एक ही कहलाता है। भातिभेद कभी भेदक नहीं बनता। भेदक बनता है-एकमात्र सत्ताभेद, यही निष्कर्ष है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। सत्-चित्-आनन्द, ये तीन सत्ता नहीं हैं, अपितु एक ही तत्व की तीन भातियाँ हैं। वही सत्-चित्-आनन्द, इन भावों से प्रतीत हो रहा है। सत्ता एक है, अतएव भातित्रय के रहने पर भी स्वगतभेद को अवसर नहीं मिलता। आम्रफल-आम्रमञ्जरी-आम्रपत्रादि हैं उसी आम्रवृक्ष में, परन्तु सब की सत्ता विभिन्न है। अतएव फल-मञ्जरी-पल्लवादि का पृथक् रूप से ही उद्भव होता है, नाश भी हो जाता है, इससे वृक्ष का कुछ बनता बिगड़ता नहीं। अतएव इसे स्वगतभेदयुक्त माना जा सकता है। परन्तु जिस सच्चिदानन्दब्रह्म का अस्तित्त्व अवारपारीण है, अभिन्न है, जो स्वयं ही दृष्टिकोणभेद से सत्-चित्-आनन्द-रूप से प्रतीतमात्र हो रहा है, जिसकी तीनों प्रतीतियाँ अभिन्न हैं, एक प्रतीति के अभाव में तीनों अप्रतीत हैं, उस ब्रह्म में स्वगतभेद कैसे माना जा सकता है। त्रिपुटी (इलायची) का उदाहरण इससे अंशतः समतुलित है। पुट तीन हैं, इलायची एक है। भाति तीन हैं, सत्ता एक है। अतएव अद्वैतवाद सर्वात्मना अक्षुण्ण है।

४४—सत्-चित्-आनन्द-भातियों की अभिन्नता—

तीनों भातियों की अविनाभूतता का भी समन्वय कर लोजिए। पहिले तीनों के अन्योऽन्याविनाभाव पर दृष्टि डालिए। 'अस्ति'-अतः तद्वेत्ति'='है-इसलिए जानता है', इस वाक्य में वेत्ति रूप चित् अस्ति से अविनाभूत है। यदि अस्ति नहीं है, तो वेत्ति भी नहीं है। 'वेत्ति-अतः-तदस्ति'='जानता है-इसलिए वह है', इस वाक्य में अस्तिरूप सत् वेत्तिरूप चित् से अविनाभूत है। यदि चित् नहीं है, तो सत् भी नहीं है। 'योऽस्ति, यश्च वेत्ति-स रसः'-'जो है, जिसे जानता है, वही रस है' इस वाक्य में रसरूप आनन्द अस्ति-रूप सत्, वेत्तिरूप चित्, दोनों से अविनाभूत है। यदि सत्-चित् नहीं हैं, तो रसानन्द भी नहीं है। इस प्रकार तीनों का स्वरूप एक दूसरे पर आश्रित है। यह तभी सम्भव है, जब कि तीनों एक ही तत्त्व की तीन भातियाँ हो।

तीनों की अभिन्नता का भी समन्वय कर लीजिए। (१)- **यदस्ति तज्जानाति, स रसः'**-'जो है, उसी का ज्ञान है, जिसका ज्ञान है-वही रसानन्द है', यह वाक्य सदपेक्षया तीनों की अभिन्नता का समर्थक है। 'अस्ति' सत् है। तज्जानाति रूप से यह अस्तिलक्षण सत् भी चित् है। तेन तृप्तिः रूप से अस्तिलक्षण सत्-

ज्ञान ही सद्रूप आनन्द है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द–तीनों सद्रूप हैं। (२)–'यज्ज्ञायते–तदस्ति–स रसः'–'जो जाना जाता है, वही है, जो जाना जाता है, जो है, वही रसानन्द है', यह वाक्य चिदपेक्षया तीनों की अभिन्नता व्यक्त कर रहा है। 'ज्ञायते' चित् है। तदस्तिरूप से यह ज्ञानलक्षण चित् ही सत् है। तेन तृप्तिः रूप से चिल्लक्षण–ज्ञान ही चिद्रूप आनन्द है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द, तीनों चिद्रूप हैं। (३)–'यो रसः–सोऽस्ति, तं जानाति'–'जो रस है, वही है, वही जाना जाता है', इस वाक्य से रसापेक्षया तीनों की अभिन्नता प्रमाणित हो रही है। 'यो–रसः' आनन्द है। 'रसोऽस्ति' रूप से यह रसलक्षण आनन्द ही अस्तिरूप सत् है। रसलक्षण अस्ति का ही ज्ञान है। इसप्रकार सत्–चित्–आनन्द, तीनों आनन्दरूप हैं। अनुभव भी इसी अभिन्नता का पोषण कर रहा है। (१)–है, उसे ही जानते हैं, जिसके अस्तित्व का ज्ञान है, वही तृप्तिलक्षण आनन्द का कारण है। कारण क्या है, उस अस्तिलक्षण बोधप्राप्ति का ही नाम तृप्ति है। अस्तित्त्वबोध के प्रस्फुटित होते ही बुभुक्षा शान्त हो जाती है, तृप्ति का उदय हो जाता है। (२) जानते हैं, वही है। जो जानते हैं, वही ज्ञानतत्त्व तृप्तिलक्षण आनन्द है। (३)–वस्तुतत्त्व ही रस है, यही आनन्द है। इस रस का ही अस्तित्त्व है इसी का बोध है। इसप्रकार अनेक दृष्टियों से सच्चिदानन्दभावों की अभिन्नता के दर्शन किए जा सकते हैं।

अन्योऽन्याविनाभावदृष्टिस्त्रयाणाम्—

अस्तीति, तद्वेत्ति—चिदपेक्षानुगामिनी–सत्ता	–तदित्थमन्योऽन्याविनाभावः
वेत्ति–अतोऽस्ति——सदपेक्षानुगामिनी–चेतना	
योऽस्ति, यं वेत्ति——उभयापेक्षानुगामी–आनन्दः	

❀ ❀ ❀

(१) सदनुगता–अभेददृष्टिः—

१–यदस्ति (सदपि सत्)—सत्त्वैव सत्	–सदभिन्नः सच्चिदानन्दः
२–तज्जनाति (ज्ञानमपि सत्)—सत्त्वैव चित्	(सद्ब्रह्म)
३–स रसः (रसोऽपि सत्)—सत्त्वैव आनन्दः	

* * *

(२) चिदनुगता–अभेददृष्टिः—

१–यज्ज्ञायते (ज्ञानमपि चित्)–चिदेव चित्	–चिदभिन्नः सच्चिदानन्दः
२–तदस्ति (सदपि चित्)–चिदेव सत्	(चिद्ब्रह्म)
३–स रसः (रसोऽपि चित्)–चिदेव आनन्दः	

* * *

(३)-आनन्दानुगता-अभेददृष्टिः—

१-यो रसः (रसोऽपि रसः)—रस एव आनन्दः		
२-सोऽस्ति (सदपि रसः)—रस एव सत्	—आनन्दाभिन्नः सच्चिदानन्दः	
३-तं जानाति (चिदपि रसः)—रस एव चित्	(आनन्दब्रह्म)	

* * *

अयमत्र संग्रहः—

अविनाभावः-अस्तीति तद्वे,-त्त्यथ वेत्यतोऽस्ति, यो विद्यते वेत्ति स यं रसः सः ॥
अर्थः प्रियो नोऽस्ति-सदार्थलिप्सा, ज्ञानं प्रियो नोऽस्ति सदा बुभुत्सा ॥१॥
बोध्यं सुखं, वस्तु सदस्ति बोध्यं, बोध्यं च बोधादपृथक् प्रबुद्धम् ॥
ज्ञानं सुखं, चास्ति हि वस्तुसत्तत् , तस्मात् पृथङ्-नातितरामिमानि ॥२॥
त्रिष्वेव पर्य्याप्तमिदं समग्रं नातश्चतुर्थं किमपीह लोके ॥
प्रत्यर्थमेषामपृथक्त्वमीक्षे नैकं विनाऽन्येन कदापि सिद्धयेत् ॥३॥

* * *

अभिन्नभावः-भात्यास्तिरेवं खलु, भातिरस्त्या, ताभ्यां रस, स्ते च रसेन सिद्धे ॥
तेषां न पूर्वत्त्वपरत्त्वसिद्धिर्गत्यां यथा योगविभागसंस्थाः ॥१॥
सैवोपलब्धिर्यदिहास्ति, यद्वोपलभ्यते यत्तदिहास्ति सत्ता ॥
यद्भातिसिद्धाऽस्ति,-रथास्तिसिद्धा भाती, रसस्तूभयसिद्ध एव ॥२॥
न भातिपूर्वास्ति,-रथास्तिपूर्वा न भाति,-राभ्यां न विनाकृतो वा ॥
रसोऽपि शक्येतः मतं तदेकमव्याकृतं व्याक्रियते त्रिधा यत् ॥३॥
[१]अस्तीति बोधोऽपि च, [२]सोऽस्ति, बोधो [३]रसः, स [४]बोधोऽपि च बोद्धृ[८]-बोध्ये ॥
[५]रसोऽस्ति, [६]सत्तापि रसो, न चान्यन्मन्यामहे, तेन तदेकसत्यम् ॥४॥

* * *

१	(१) अ स्त-इति बोधरूपम्-अस्तीत्येवं ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूता सत्ता
	(२) बोधः-अस्ति——-तदिदं ज्ञानं सत्तावत्	सत्तयानुगृह्यते ज्ञानम्	सत्तयाप्यविनाभूतं ज्ञानम्
२	(३) रसः-इति बोधरूपम्-रस इति कृत्वा ज्ञायते	ज्ञानेनानुगृह्यते सत्ता	ज्ञानेनाप्यविनाभूतो रसः
	(४) बोधो, बोद्धा, बोध्य, इति रसः-तदिदं ज्ञानं रसः	रसेनानुगृह्यते ज्ञानम्	रसेनाप्यविनाभूतं ज्ञानम्
३	(५) रसः-अस्ति——बलाधारः कश्चिद स्ति	सत्तयानुगृह्यते रसः	सत्तयाप्यविनाभूतो रसः
	(६) सत्ता-रसः——-ज्ञानक्रियालम्बनत्त्वात्	रसेनानुगृह्यते सत्ता	रसेनाप्यविनाभूता सत्ता

* * *

४५-'अस्ति', 'उपलब्धि', और 'तत्त्वभाव' का समन्वय—

सत् 'अस्ति' है, चित् 'उपलब्धि' है, आनन्द 'तत्त्वभाव' है। तत्त्वभावोपलब्धिरूप अस्तित्व ही सच्चिदानन्दब्रह्म है। अस्तिभावोपलब्धिरूप तत्त्वभाव (सच्चिद्रूपानन्दभाव) ही प्रसाद का कारण है। अस्ति-ग्रहण से सर्वग्रहीत है। यही सच्चिदानन्दब्रह्म की साक्षात् दृष्टि है, जिसका निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

नैव वाचा, न मनसा, प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ॥
'अस्ती' ति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥१॥
'अस्ती' त्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ॥
'अस्ती' त्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥२॥

—कठोपनिषत् ६।१२।१३।

१-अस्ति——सत्
२-उपलब्धिः-चित्
३-तत्त्वभावः-आनन्दः

} -अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः
"अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति"

* * *

४६–गीता का 'समब्रह्म', और 'ऐकान्तिकरस'–

उन्मुग्ध सच्चिदानन्दलक्षण–ऐतदात्म्य–निरपेक्ष–यही निष्कलब्रह्म गीतापरिभाषा में–'समब्रह्म'–'ऐकान्तिकरस' इन दो नामों से व्यवहृत हुआ है। सर्वत्र समरूप से व्याप्त गुणातीत ब्रह्म ही समब्रह्म है। यह विशुद्ध रसात्मक है, अतएव इसे 'ऐकान्तिकरस' नाम से व्यवहृत करना भी अन्वर्थ बनता है। भावाभाव, सदसत्, मूर्त्तामूर्त्त, निरुक्तानिरुक्त, अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत, सर्वत्र यह असङ्गरूप से व्याप्त है। बिना इसके क्योंकि कोई भी सापेक्ष विषय अपनी सापेक्ष सत्ता नहीं रख सकता, अतएव सर्वथा असङ्ग भी यह निष्कलब्रह्म सब का आरम्भक मान लिया जाता है। अतद्व्यावृत्तित्व ही इसका आरम्भकत्व है। सर्वबलोपहित विशुद्ध रस ही इसका प्रातिस्विक रूप है, जिस शुद्ध रस की सत्-चित्-आनन्दरूप से भाति होती है। बलतत्त्व ही कला का जनक है। रसतत्त्व स्वस्वरूप से अखण्ड बनता हुआ निष्कल है। अखण्ड–अद्वय रस को खण्ड–खण्डरूप में परिणत करने वाला मृत्युलक्षण खण्डरूप स्वयं बल ही है। बल नहीं, तो खण्डभाव नहीं। खण्डभाव नहीं, तो कलाभाव नहीं। अतएव सर्वबलोपहित विशुद्ध रसतत्त्व को अवश्य ही निष्कल कहा जा सकता है।

४७–ब्रह्मानुगत 'आभू', और 'अभ्व' तत्त्व–

प्रकरण से आरम्भ कर अब तक केवल सत्–चित्–आनन्दरूप रसतत्त्व का ही विश्लेषण हुआ है। इसी की सर्वव्याप्ति का यशोगान हुआ है। इसकी आरम्भकता भी केवल अतद्व्यावृत्तिदृष्टया स्वीकृत हो गई है। वह स्वयं व्यापक है, असङ्ग है, निरञ्जन है, नित्यशान्त है, परिपूर्ण है, निष्काम है। उसका कहीं अभाव नहीं, एतावता ही उसे आरम्भक मान लिया जाता है। वस्तुतः 'आरम्भक' शब्द का जो उपादान–अर्थ लोक–वेद में संगृहीत है, उस उपादानात्मक आरम्भणभाव से तो उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। व्यापकत्वेन जब वह सर्वात्मक है, तो उसका कामना से क्या सम्बन्ध ?, क्योंकि कामना अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिए ही हुआ करती है। यह सम्भव है कि, कार्य्यरूप विश्व में जो अपरिवर्त्तनीय–सामान्य–नित्यभाव हैं, उनका वह रसब्रह्म कारण हो, परन्तु प्रतिक्षण विलक्षण क्षणिक क्रियाभावों का, क्रियाकूटात्मक गुणों का, गुणकूटात्मक द्रव्यों का, एवं तद्रूप अनित्यभावों का तो वह कथमपि उपादान नहीं बन सकता। वैज्ञानिकोंनें इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए मर्त्य कार्य्य के मर्त्यकारण का अनुमान लगाया, एवं उसे बल नाम से व्यवहृत किया। साथ ही यह सिद्धान्त स्थापित किया कि, कार्य्यात्मक विश्व में समष्टि–व्यष्टिरूप से उभयथा परिवर्त्तनीय, दो विरुद्ध कार्य्यों का एकत्र समन्वय हो रहा है, अतः भावद्वयात्मक कार्य्यरूप विश्व का मूल भी भावद्वयात्मक ही होना चाहिए, क्योंकि-कारणगुण ही कार्य्यगुण के आरम्भक बना करते हैं। परिवर्त्तनीय भाव का परिवर्त्तनशील मूलकारण ही 'बल' कहलाया, एवं अपरिवर्त्तनीय कार्य्यभाव का अपरिवर्त्तनशील मूलकारण ही 'रस' कहलाया। रस **'आसमन्ताद् व्याप्तो भवति'** निर्वचन से **'आभू'** कहलाया, बल–अपने त्रिक्षणभाव से **'अभवन्–भवति'** निर्वचन से 'अभ्व' कहलाया। बलात्मक अभ्व नामरूपकर्म्ममय मर्त्यकार्य्य का कारण बना *, रसात्मक आभू 'अस्ति' लक्षण सत्तारस (सोपाधिकसत्ता) का आधार बना। इसप्रकार निष्कल रसकारणता के साथ साथ स–कल बलकारणता इसी प्रसङ्ग में हमारे सम्मुख और उपस्थित हो गई।

---

* **"ते हैते ब्रह्मणो महती अभ्वे, महती यक्षे (नामरूपे)"**

४८–ब्रह्मानुगत वाक्यार्थबोध का समन्वय–

बलभाव की स्वीकृति से स्वगतभेद का प्रश्न उपस्थित होना चाहिए था, परन्तु नहीं होता। कारण सत्–चित्–आनन्द–तीनों जैसे भातिसिद्ध बनते हुए रसाद्वैत पर कोई आक्रमण नहीं करते, एवमेव भातिसिद्ध बल भी सत्तैक्यात् स्वगतभेद को अवसर नहीं देने पाता। मर्त्य कार्य्य के कारणभूत इस बल की सुषुप्ति, जागृति, चिति, हृद्ग्रन्थि, ये चार अवस्थाएँ रहती हैं। सुषुप्तिदशा में यच्चयावत् बल रससमुद्र में विलीन रहते हैं। एतदवस्थापन्न रस ही बलोपहित रस कहलाया है। इसी को निष्कलब्रह्म माना गया है। बल हैं अवश्य। बल भला रस को छोड़ कर जायँगे भी कहाँ? परन्तु रससमुद्र में निमग्न हैं, सुप्त हैं। अतएव कलाप्रवृत्ति का अभाव है। अतएव च रहते हुए भी बल की उसी प्रकार इस सुप्तदशा–अकर्म्मण्यदशा में अविवक्षा कर ली जाती है, जैसे यत्कर्म्मयोग्यताविरहित यत्–वस्तु की स्थिति अभावात्मिका मान ली जाती है। जिसका जो कर्म्म है, वह यदि उसे नहीं करता, तो उसका रहना न रहना ही माना जाता है। अथवा रहते हुए भी सुप्तबल की उसी प्रकार अविवक्षा कर ली जाती है, जैसे वाक्यार्थबोध–प्रसङ्ग में वाक्यार्थबोध के समन्वय के लिए अपने ज्ञान में विद्यमान भी घटत्त्व की अविवक्षा कर 'घटे घटत्त्वम्' का 'घटत्त्वोपहिते घटे घटत्त्वम्' इस रूप से वाक्यार्थबोध कर लिया जाता है। सिद्ध विषय है कि, घट में अवश्य ही घटत्त्व रहता है। यदि घटत्त्व ही न रहेगा, तो घट कहाँ रह पाएगा। बात तो ठीक है। परन्तु इसे शब्दद्वारा कहा कैसे जाय!। **'घटे घटत्त्वम्'** क्या यह कहा जाय? कह भले ही दिया जाय, परन्तु वाक्य अशुद्ध होगा, अभीष्टार्थसिद्धि न होगी। क्यों?। इसलिए कि—'घटे' का अर्थ होगा 'घटत्त्वविशिष्टे घटे'। क्योंकि घटत्त्व के बिना घट शब्द ही अनुपपन्न है। उधर घटत्त्व घट में रहता है, घटत्त्व घटत्त्व में नहीं रहता–**'सामान्ये सामान्याभावः'**। मनुष्य में मनुष्यत्त्व रहता है, मनुष्यत्त्व में मनुष्यत्त्व क्या रहेगा, और कैसे रहेगा? ऐसी स्थिति में 'घटे घटत्त्वम्' का स्वतःसिद्ध जो—'घटत्त्वविशिष्टे घटे घटत्त्वम्' यह अर्थ होगा, वह सर्वथा तत्त्वदृष्ट्या अनुपपन्न बन जायगा। क्योंकि घटत्त्वविशिष्ट घट में घटत्त्व तो पहिले से ही विद्यमान है। फिर उसमें और घटत्त्व क्या रहेगा। इस अड़चन को दूर करने के लिए तार्किकोंनें विद्यमान भी घटत्त्व की स्वबुद्धि में अविवक्षा मान कर **'घटत्त्वोपहिते घटे घटत्त्वम्'** यह वाक्यार्थ–समन्वय कर लिया है। ठीक यही व्यवस्था यहाँ समझिए। रस घटस्थानीय है, बल घटत्त्व स्थानीय है। घट जैसे बिना घटत्त्व के अनुपपन्न है, एवमेव रस भी बिना बल के अनुपपन्न है। ऐसी स्थिति में 'रसे बलत्त्वम्' का 'बलत्त्वविशिष्टे रसे बलत्त्वम्' यह वाक्यार्थ होना चाहिए, किन्तु यह अनुपपन्न है। अतएव इसका **'बलत्त्वोपहिते रसे बलत्त्वम्'** इसप्रकार समन्वय कर लिया है। तात्पर्य्य–सत्तादृष्ट्या यद्यपि रस बल, दोनों का अपार्थक्य है, तथापि विशेषणधिया अपने ज्ञान में बल की अविवक्षा कर शुद्ध रस की भावना कर ली जाती है। बलरहित यह शुद्ध रस ही, जिसे पूर्वकथनानुसार हम 'उन्मुग्ध सच्चिदानन्दब्रह्म' कहेंगे—निष्कलब्रह्म है। **'रसो ह्येव सः'** ही इसकी परिभाषा है, 'एव' शब्द ऐकान्तिकभाव का ही सूचक है।

४९–नेति–नेतीत्युपनिषत् का समन्वय–

सापेक्ष सच्चिदानन्दब्रह्म की सर्वसामान्यानुभूता प्रत्यक्षदृष्टि का पूव में विश्लेषण हुआ है, और तत्–प्रसङ्ग में ही यह बतलाया गया है कि–आबाल–वृद्ध–वनिता–सब को ब्रह्म के सापेक्ष सोपाधिक उद्‌बुद्ध रूपों के प्रत्यक्ष–दर्शन हो रहे हैं। क्या लौकिक–भौतिक–विषयानुभवों की भाँति इस ब्रह्मानुभूति का भी वाणी के द्वारा (शब्दों में) अभिनय सम्भव है?, प्रश्न का समाधान –**'नेति–नेतीत्युपनिषत्'** (श्रुतिः) ही माना

गया है। "जब किसी भी स्वकल्पना–कल्पित सिद्धान्त के समर्थन के लिए इन केवलतत्त्ववादी–विज्ञानशून्य भारतीयों को कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता, तो ये उसे ही–अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–शब्दातीत–कहते हुए तटस्थ बन जाते हैं, जो कि तटस्थता इन का परप्रतारणात्मक पथ ही माना जायगा", इसप्रकार भारतीय तत्त्वसम्मत अनिर्वचनीय, किन्तु स्वानुभवैकगम्य ब्रह्मतत्त्व के सम्बन्ध में जड़भूतविज्ञानवादियों का जो विज्ञान–सम्मत ? आक्रोश व्यक्त होता रहता है, तत्सम्बन्ध में भारतीय आर्षप्रज्ञा के कोश में इसलिए कोई समाधान नहीं है कि, विज्ञानाभिनिवेश से समुत्पन्न इसप्रकार के आक्रोश, एवं तदनुगत हेत्वाभास लोकानुभव (भूतानुभव) दृष्टि से भी कोई महत्त्व नहीं रखते। अतएव सर्वथा बालप्रज्ञा से सम्बन्धित इत्थंभूत आक्रोशों की समाधानप्रवृत्ति सर्वथैव यातयामा है। हाँ, जो अस्तिब्रह्म के उपासक हैं, जो दिग्देशकालातीत ब्रह्मतत्त्व की अतद्व्यावृत्तता से सुपरिचित हैं, उन्हें इस दिशा में न कभी सन्देह हुआ, न हो सकता। क्योंकि वे जानते हैं कि, जब कि गुड़–शर्करा–इक्षु–मधु–आदि भौतिक पदार्थों के सर्वथा विभिन्न मधुर–अनुभवों के तारतम्य भी वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं किए जा सकते। केवल रसनेन्द्रिय ही इनके माधुर्य्य–तारतम्य का अनुभव कर सकती है, तो जो ब्रह्मतत्त्व सम्पूर्ण विषयों का आधार है, जिसको आधार बनाए बिना कोई भी अनुभूत व्यक्त नहीं हो सकती, दिग्देशकालानवच्छिन्न उस स्वानुभवैकगम्य ब्रह्मानन्द का शब्द–द्वारा कैसे अभिनय सम्भव है ? 'नेति–नेति' ही उसके अभिनय की आधारभूमि है।

'नेति नेति' का अक्षरार्थ जान लेना भी आवश्यक है। सच्चिदानन्दब्रह्म के निरपेक्ष, सापेक्ष, रूप दो विवर्त बतलाए गए हैं। विषयातीत विशुद्ध रसात्मक सच्चिदानन्दब्रह्म निरपेक्ष है, विषयविशिष्ट बलरसात्मक सच्चिदान्द-ब्रह्म सापेक्ष है। जो कुछ प्रतीत होरहा है, वह सापेक्षब्रह्म है। जो इन्द्रिय–प्रतीति से बहिर्भूत है, वह निरपेक्ष है। 'नेति–नेति' आदेश दोनों का संग्राहक बना हुआ है। प्रत्येक भौतिक विषय पर, नामरूपकर्म्मात्मक पदार्थ पर दृष्टि डालते जाइए, और साथ ही न–इति–न–इति बोलते जाइए। निरपेक्ष पर दृष्टि चली जायगी। 'स घटोऽपि न, पटोऽपि न, अपितु विषयातीतः–अवाङ्मनसगोचरः–अविज्ञेयः–निरुपाधिकः' ही 'न इति–न–इति'–अवगन्तव्यः। न–न करते जाइए, विषयसमाप्त्यनन्तर आपकी तत्त्वभावना अवरुद्ध होजायगी। वही निरपेक्षब्रह्म होगा। इसप्रकार 'नेति–नेति' वाक्य का विषयनिषेधात्मक अर्थ निरपेक्षब्रह्म की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। दूसरा दृष्टिकोण नेति की नेति से सम्बन्ध रखता है। विषयोपाधिरूपेण वही सर्वत्र प्रस्फुटित है। कहीं भी उसका अभाव नहीं है। 'अस्ति' (विषयसत्ता) रूप से सर्वत्र वही प्रतीत होरहा है। प्रतीत होने वाला सत्तालक्षण ब्रह्म सोपाधिक सच्चिदानन्द है। अभावाभाव सत्ता का स्वरूपसमर्पक माना गया है। घटाभावाभाव घटसत्ता का कारण है। नकार का नकार अस्तित्त्व का समर्थक है। न–इति न–इति (अवगन्तव्यम्) ही दूसरे दृष्टिकोण का समन्वय है। 'वह नहीं है, यह बात नहीं है, ऐसा समझिए' ही–'नेति–नेति' का अर्थ है, जिसका फलितार्थ निकलता है–'अस्तीत्येव'।

प्रत्यक्षदर्शन होता है–सापेक्ष सच्चिदानन्द का। इस प्रत्यक्ष में विषय, और विषयाधारभूत सच्चिदानन्द, दो भावों का समन्वय है। इनमें से विषय का तो स्वरूपनिर्वचन सम्भव है, परन्तु विषयाधारभूत सच्चिदानन्द का अनुभवद्वारा प्रत्यक्षमात्र है। इसका स्वरूपनिर्वचन करना असम्भव है। कारण स्पष्ट है। वह अपने स्वरूप से व्यापक बनता हुआ निरपेक्षब्रह्म से अभिन्न है। हमारा भूतात्मा परिच्छिन्न, मन परिच्छिन्न, इन्द्रियवर्ग परिच्छिन्न। और वह अपरिच्छिन्न। परिच्छिन्न अपरिच्छिन्न का स्वरूप विश्लेषण करे, तो कैसे करे ? वह अपने

व्यापक धर्म्म से हमारी बुद्धि-मन-इन्द्रिय सब में व्याप्त है, परन्तु बुद्धि-मन-इन्द्रिय उसमें व्याप्त नहीं है। वह हममें अवश्य है, हम उसमें नहीं है। प्रत्येक तरङ्ग में समुद्र व्याप्त है, परन्तु तरङ्गें तो सम्पूर्ण समुद्र की इयत्ता नापने में असमर्थ हैं। तरङ्गें अवश्य सामुद्र हैं, किन्तु समुद्र तारङ्ग नहीं है-'सामुद्रो हि तरङ्गः, क्वचन समुद्रो न तारङ्गः'। मैं अवश्य उसका हूँ, परन्तु वह मेरा (ही) नहीं है। व्यापक अवश्य व्याप्यों में रहता है, परन्तु व्याप्य व्यापक का वेष्टन नहीं कर सकते। वह सर्वात्मना एक परिच्छिन्न व्यक्ति में नहीं समा सकता-'**न त्वहं-तेषु**'। व्यक्ति अवश्य ही सर्वात्मना उस व्यापकगर्भ में प्रविष्ट है-'**ते मयि**'। अपिच-मान लेते हैं-सोपाधिक ब्रह्म की हमें अनुभूति है। फिर भी उस अतद्व्यावृत्त के निर्वचन के लिए शब्द कहाँ प्राप्त करें। घट का घट शब्द से इसलिए निर्वचन होजाता है कि, घट शब्द घटेतर पटादि यच्चयावत् शब्दों का व्यावर्त्तक है। प्रत्येक शब्द की यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है। घट इसलिए घट है कि, वह पट नहीं है। पट इसलिए पट है कि, वह घट नहीं है, परन्तु जो घट-पट -मठ-कृष्ण-पीत-हरित-नील -सब कुछ है, उसके लिए 'सर्वम्' (जो सर्वम्-नेति नेति का ही रूपान्तर है) के अतिरिक्त और क्या कहा जासकता है। इसी अतद्व्यावृत्ति से वह अनिर्वचनीय है। हम सोपाधिकरूप से उसका अपने अन्तर्जगत् में अनुभव कर रहे हैं, इसलिए हमारे मुख से-'नहीं जानते' भी नहीं निकलता। उसका तद्रूप से निर्वचन करने में हम असमर्थ हैं, इसलिए 'जानते हैं' भी नहीं कहा जासकता। जानते हुए भी नहीं जान रहे, कैसा आश्चर्य्य है। वह जानना भी क्या जानना है, जिसे जान कर हम अपने आपको ही भूल जाँय-'**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**'। अतएव अन्ततोगत्वा श्रुति के '**नेति नेतीति होवाच**' आदेश पर ही विश्राम करना पड़ता है, जिस विश्रामभूमि का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है-

संविदन्ति न यं वेदाः, विष्णुर्वेद, न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥

५०-अवाङ्मनसगोचर अविज्ञेय ब्रह्म-

अनुभूति आत्मविषयिणी हो, अथवा लोकविषयिणी, अनुभूति अनुभूति है, रसात्मिका है। रस तत्त्व अपने रूपसे ब्रह्म है। अतः उसका निर्वचन असम्भव है। तिक्त-कटु-अम्ल-लवण-मधुर-स्वादों की अनुभूति अनुभूति पर विश्रान्त है। इसका शब्द-द्वारा निर्वचन असम्भव है। द्राक्षा, शर्करा, इक्षु, शर्कराखण्ड (मिश्री), आदि सभी तो मधुर रस हैं। सबका स्वाद पृथक् पृथक् रूप से अनुभूत होता है। क्या आप उस अमृत-रूपा पृथक् स्वादों की पृथगनुभूति का शब्दद्वारा निर्वचन कर सकेंगे। कृष्णमरीचिका, हरितमरीचिका, रक्तमरीचिका, आदि के तिक्तस्वादों से अनुभूत होने वाले पार्थक्य का क्या आप स्पष्टीकरण कर सकेंगे?। असम्भव। विशुद्ध रसानुभूति में आकर वह तत्त्व उस निर्विशेष रस से अभिन्न बन जाता है। अतः उसका निर्वचन असम्भव बन जाता है। सच्चिदानन्दब्रह्म सर्वानुभूत है, फिर भी उसका यदि कोई स्वरूपलक्षण पूँछता है, तो उससे पहिले विषयस्वादों का निर्वचन कराना चाहिए। यदि वह उनका निर्वचन कर देगा, तो हम भी ब्रह्म के स्वरूपनिर्वचन के असम्भव-प्रयास में प्रवृत्त होने की धृष्टता कर लेंगे। भला जब हम इन्द्रियसापेक्ष विषयानुभूतियों का भी स्वरूपनिर्वचन नहीं कर सकते, तो फिर उस निष्कल, निरञ्जन, निर्धर्म्मक, निष्क्रिय, निर्विशेष, दिग्देशकाल से अनन्त, किन्तु संख्या से एक, रसैकघन, उन्मुग्ध, सच्चिदानन्दब्रह्म का निर्वचन क्यों कर हो सकता है। अतएव इसे अवाङ्मनसगोचर, अनिर्वचनीय, एवं अविज्ञेय कहा गया है।

५१–निष्कलब्रह्म, और तदनुगत ब्रह्मवन—

उक्त लक्षण, किन्तु तत्त्वतः सर्वविधलक्षणातीत निष्कल ब्रह्म के दो विवर्त्तभावों की ओर वैज्ञानिकों नें हमारा ध्यान आकर्षित किया है । **बलोपहित निष्कलब्रह्म**, प्रथम विवर्त्त है, एवं **बल-विशिष्ट निष्कलब्रह्म**, द्वितीय विवर्त्त है । सर्वात्मना दोनों का स्वरूप अभिन्न है । केवल बल-दृष्टि से तारतम्य है । उसी को विशुद्ध रसरूप से देखना एक दृष्टिकोण है, यही बलोपहित निष्कलब्रह्म है । उसी को बलविशिष्टरूप से देखना एक दृष्टिकोण है, यही बलविशिष्ट निष्कलब्रह्म है । प्रथम विवर्त्त विज्ञानभाषा में **'निर्विशेष'** कहलाया है, गीताभाषा में यही **'ऐकान्तिकरस'** नाम से व्यवहृत हुआ है । द्वितीय विवर्त्त विज्ञानभाषा में **'परात्पर'** कहलाया है, यही गीताभाषा में–**'शाश्वतधर्म्म'** कहलाया है । स्मरण कीजिए, हमनें पूर्व में (६७ पृष्ठ पर) बल की सुषुप्ति, जागृति, चिति, ग्रन्थि, भेद से चार अवस्था बतलाईं हैं । वहीं यह भी स्पष्ट कर दिया है कि, रसगर्भ में जब बल सुप्त हो जाते हैं, तो विशुद्ध रस का साम्राज्य रह जाता है । और ऐसे बल का रहना न रहने के समान है । यही पहली निर्विशेषावस्था है । बल सुप्तावस्था को छोड़ कर जाग्रदवस्था में तो आगए, परन्तु अभी न तो इनकी चिति हुई, न बन्ध हुआ, अपितु बल सहचर अवस्थामात्र से युक्त हैं । सहचरसम्बन्धानुगत बल चिति, एवं बन्धलक्षणा संसृष्टिमर्य्यादा से असंसृष्ट रहते हुए सृष्टिमर्य्यादा से एकान्ततः बहिर्भूत हैं । सहचरावस्था ही बलों की जाग्रदवस्था है । तदवस्थायुक्त सर्वबलविशिष्ट, सृष्टिमर्य्यादया बहिर्भूत रस ही परात्पर है । बल ही रस का 'त्व' लक्षण धर्म्म है । अतएव परात्पर को सर्वधर्म्मविशिष्ट कहा जासकता है । अतएव विज्ञानप्रधान गीताशास्त्र ने इसे 'शाश्वतधर्म्म' नाम से ही व्यवहृत करना न्यायसङ्गत माना है । बुद्ध्या प्रकल्पित बलाविवक्षया वही तत्त्व निर्विशेष है, सत्तादृष्ट्या वही तत्त्व परात्पर है । निर्विशेष भातिसापेक्ष है, परात्पर सत्तासापेक्ष है । सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर दोनों का ऐक्यभाव सुस्पष्ट है । अतएव दोनों को दो न मान कर हम 'निष्कल' रूप से एक ही नाम से उसका संग्रह कर रहे हैं । यही निष्कल निर्विशेषदृष्ट्या अनारम्भक है, परात्परदृष्ट्या अधिष्ठानात्मक आरम्भक है । परात्पर का रसभाग विश्वामृतसत्ता का आरम्भक है, परात्पर का बलभाग विश्वमर्त्यभाव का आरम्भक है । वही निष्कल परात्पर महतोमहीयान् है, वही अणोरणीयान् है । रसदृष्ट्या वही महतोमहीयान्रूप भूमा है । बलदृष्ट्या वही अणोरणीयान्रूप अणिमा है । जो भूमा है, वही अणिमा है । जो अणिमा है, वही भूमा है । भूमारस भी बलमय है, अणिमाबल भी रसमय है । सर्वथा अत्यनपिनद्ध इसी परात्पर को हम प्रकृत प्रकरण का निष्कल नामक प्रथम आरम्भक कहेंगे–जो बलात्मिका नित्या अशान्ति को अपने गर्भ में रखता हुआ भी रसात्मिका नित्या शान्ति की अपेक्षा आपूर्य्यमाण समुद्रवत् अचलप्रतिष्ठ है । वृक्षधिया आत्मतत्त्व की उपासना करने वालों नें इसी निष्कल परात्पर को **'ब्रह्मवन'** नाम से व्यवहृत किया है*–

जब परात्पर में बल जाग्रदवस्थापन्न हैं, एवं बलविभक्ति का ही नाम जब कला है, तो परात्पर को निष्कल कैसे माना गया ?, यह प्रासङ्गिक प्रश्न है । प्रासाङ्गिक उत्तर भी स्पष्ट है । कलाप्रवृत्ति चितिभाव पर निर्भर है । चितिभाव कामभाव पर निर्भर है । कामभाव हृदयभाव पर निर्भर है । हृदयभाव सीमाभाव पर निर्भर है ।

***–ब्रह्म वनं, ब्रह्म स वृक्ष आसीत्, यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः ।**
मनीषिणो मनसा विब्रवीमि वः, ब्रह्माध्यतिष्ठद्–भुवनानि धारयन् ॥
—तै०ब्रा० २।८।९।६।

जब कि परात्पर असीम है, तो ये सम्पूर्ण निर्भरताएँ उसके गर्भ में हीं विलीन हो जातीं हैं। बलों की चिति, किंवा ग्रन्थिबन्धन तो तभी सम्भव है, जबकि संचरभाव से प्रवाहित बलों को एक दूसरे से टकराने का अवसर मिले। व्यापक परात्पर में ऐसा अवसर मिलना असम्भव है। अतएव चिति भी असम्भव है। अतएव च उसका कलाभाव से सम्बन्ध नहीं होता।

५२–महाकाल परमेश्वर की सर्वारम्भकता—

निष्कल परात्पर ही आगमभाषा में **'महाकाल'–परमेश्वर'** कहलाया है। इसी के लिए श्रुतियों में पदे पदे **'अभयं वै ब्रह्म'** इत्यादिरूप से 'अभय' नाम प्रयुक्त हुआ है। यह विश्वातीत, परात्पर–परमेश्वर एक है, इसके गर्भ में अनन्त (असंख्य) ईश्वर उसी प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जैसे एक एक ईश्वर के गर्भ में असंख्य जीव प्रतिष्ठित हैं। जीवों का परमेश्वर ईश्वर है, ईश्वरों का परमेश्वर परात्पर है। सर्वबलविशिष्टरसमूर्ति परात्परका बलभाग 'मृत्यु' है, यही 'अभ्व' है। रसभाग 'अमृत' है, यही 'आभू' है। बल संख्या से अनन्त (असंख्य), किन्तु दिग्देशकाल से सादि सान्त परिच्छिन्न हैं। रस संख्या से एक, किन्तु दिग्देशकाल से अनन्त–अपरिच्छिन्न है। रस एकान्ततः अपरिवर्त्तनशील है, स्थितिलक्षण है। बल परिवर्त्तनशील हैं, गतिलक्षण हैं। रस नित्य है, बललक्षण है, आनन्दरसैकघन है, पूर्ण है। बल अनित्य हैं, स्वलक्षण हैं, दुःखं–दुःखं हैं, शून्यं–शून्यं हैं। रस ब्रह्म है, बल कर्म्मरूप श्रम है। रसब्रह्म को प्रधान मानने वाला ब्रह्मानुयायी वर्ग **'ब्राह्मण'** है। बलश्रम को प्रधान मानने वाला श्रमानुयायी वर्ग **'श्रमणक'** है। अस्तिरूप रसब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण **'आस्तिक'** कहलाए हैं। 'नास्ति' रूप बलश्रम के अनुयायी श्रमणक 'नास्तिक' कहलाए हैं। इसप्रकार परात्पर के अस्ति, नास्तिरूप से दो प्रकार से दर्शन हो रहे हैं। इसी आधार पर भारतीय आत्मदर्शन **आस्तिकदर्शन, नास्तिकदर्शन** भेद से दो भागों में विभक्त हो रहा है, जिसका भूमिका के **'आत्मपरीक्षा–खण्ड'** में विस्तार से विश्लेषण किया जाचुका है। पूर्वप्रपञ्च का निष्कर्ष यही निकलता है कि, सर्वबलविशिष्ट अखण्ड–अद्वय परात्पर का ही नाम निष्कलब्रह्म है, जिसकी **निर्विशेष, परात्पर,** इन दो विवर्त्तरूपों से भावना की जा सकती है। यही पहिला निष्कल नामक आरम्भक है।

५३–सर्वबलविशिष्ट परात्परब्रह्म, एवं सर्वबलोपपन्न पुरुषब्रह्म—

जिस निष्कल परात्परब्रह्म का पूर्व में निरूपण हुआ है, उसीके आगे जाकर सर्वबलविशिष्ट, सर्व–**बलोपपन्न,** ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। जिसप्रकार उन्मुग्धरसमूर्त्ति सच्चिदानन्दब्रह्म के **सर्वबलविरहित, सर्वबलविशिष्ट,** ये दो रूप क्रमशः निर्विशेष, परात्पर, नाम से व्यवहृत हुए हैं। एवमेव परात्परब्रह्म के उक्त दोनों विवर्त्त क्रमशः परात्पर, पुरुष, नाम से व्यवहृत हुए हैं। जैसे निर्विशेष, और परात्पर तत्त्वतः अभिन्न बतलाये गए हैं, एवमेव परात्पर, और पुरुष भी तत्त्वतः अभिन्न ही हैं। इसी आधार पर **'परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्'** यह निगम व्यवस्थित हुआ है। पुरुष अवश्य उससे अभिन्न रहता हुआ परात्पर है, परन्तु स्वयं परात्पर अपने व्यापक स्वरूप से (सर्वबलविशिष्टरूपसे) कभी पुरुष नहीं है। इस मौलिक दृष्टिकोण को आधार बना कर ही 'षोडशी' नामक द्वितीय आरम्भक की मीमांसा करनी चाहिये।

५४–नव (९) अवस्थात्मक बलतत्त्व—

रसैकघन परात्परब्रह्म में जिस क्षणिक बल का अवस्थान बतलाया गया है, अमृतरस के तारतम्य से उस बल की ९ अवस्था हो जाती हैं, एवं वे ९ अवस्था यत्र तत्र उपनिषदों में–"१–शान्तिः, २–तृप्तिः,

३–प्रसादः, ४–माया, ५–कला, ६–गुणः, ७–विकारः, ८–अञ्जनम्, ९–आवरणम्" इन नामों से प्रसिद्ध हुईं हैं। इनमें से ३–३ का एक एक स्वतन्त्र विभाग है। प्रथमत्रयी में रस का प्राधान्य है, द्वितीयत्रयी मे रस–बल का साम्य है, तृतीयत्रयी में बल का प्राधान्य है। रसप्रधाना प्रथमा त्रयी 'अमृतम्' है, इसका निष्कल परात्पर से सम्बन्ध है। उभयप्रधाना द्वितीया त्रयी 'अमृतमृत्यू' है, इसका षोडशी से सम्बन्ध है। बलप्रधाना तृतीया त्रयी 'मृत्युः' है, इसका प्रतिमाषोडशी से सम्बन्ध है, जैसा कि निम्न लिखित तालिका से स्पष्ट है—

१	१–शान्तिः (सुप्तबलम्) तद्युक्तो शुद्धरसः	—निर्विशेषः	—अमृतम् (निष्कलः १)
	२–तृप्तिः (स्वप्नबलम्) बलत्यागानुगामी रसः	—	
	३–प्रसादः (जाग्रद्बलम्) बलविशिष्टरसः	—परात्परः	
२	१–माया (चित्याधारबलम्)–तद्युक्तोऽव्ययः—पुरुषः	सत्यस्यसत्यम	–अमृतमृत्यू (षोडशी २)
	२–कला (चितिबलम्)–तद्युक्तोऽक्षरः–पराप्रकृतिः	सत्यम्	
	३–गुणः (चिद्बलम्)–तद्युक्तः क्षरः–अपराप्रकृतिः		
३	१–विकारः (ग्रन्थ्याधारबलम्)–तद्युक्तो विश्वसृट्–यज्ञप्रजापतिः		मृत्युः (प्रतिमाषोडशी ३)
	२–अञ्जनम् (ग्रन्थिबलम्)–तद्युक्तं पुरञ्जनम्–विराट्प्रजापतिः		
	३–आवरणम् (सुप्तबलम्)–तद्युक्तं पुरम्–विश्वप्रजापतिः		

५५–षट्–बलपरिग्रहात्मक आत्मन्वी प्रजापति—

उक्त नवों बलावस्थाओं में से शान्ति, तृप्ति, प्रसाद, ये तीन अवस्थाएँ तो अचिन्त्य–अनिर्वचनीय–अविज्ञेय–सर्वबलविशिष्ट परात्पररूप निष्कलब्रह्म से युक्त रहतीं हुईं अचिन्त्य हैं। शेष ६ ओं अवस्थाएँ मायोपधि के सम्बन्ध से चिन्त्य हैं। उन तीनों का 'आत्मा' से सम्बन्ध है, इन ६ ओं का आत्मन्वी से सम्बन्ध है। रसप्रधान तत्त्व 'आत्मा' कहलाया है। बलप्रधान–परिग्रहविशिष्ट तत्त्व 'आत्मन्वी' कहलाया है। आत्मन्वी ही विज्ञानभाषा में 'प्रजापति' कहलाया है। शान्त्यादि तीनों बलावस्था बलरूपेण परिग्रहस्थानीया बनतीं हुईं भीं अचिन्त्य होने से अपरिग्रह हैं। अतः तद्युक्त निष्कल परात्पर को आत्मा ही कहा जायगा। मायादि शेष

६ अवस्थाएँ ही वास्तविक परिग्रह हैं। अतः तद्विशिष्ट आत्मा (रस) को ही आत्मन्वी (प्रजापति) माना जायगा। वही निष्कल परात्पर मायादि ६ परिग्रहों के कारण षट्संस्थ बन जाता है, जैसा कि अग्रिम परिच्छेदों से स्पष्ट हो रहा है।

५६–'माया' परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

सबसे पहिला मायापरिग्रह है। जिस निष्कल परात्पर में प्रतिक्षण विलक्षण बल का समन्वय बतलाया गया है, वह बल **'कोशबल, मात्राबल,'** भेद से दो भागों में विभक्त है। कोशबल १६ हैं, इन कोशबलों के गर्भ में प्रतिष्ठित मात्राबल असंख्य हैं। अनन्त मात्राबलों को स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाले कोशबलों में १५ अविद्याबल हैं, ये सृष्टिसाक्षी बनते हैं। एवं १ कोशबल विद्याबल है, और वह मुक्तिसाक्षी बनता है। विज्ञानभाषा में ये १६ हों बलकोश क्रमशः–विद्या, मायादि, नामों से प्रसिद्ध हैं, जैस कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट है—

१—विद्या (१)	२—माया (२)		१०-सत्यम् (१)	
इति केवलमन्यत्	३-जाया ( )	६-हृदयम् (१)	११-यज्ञम् (२)	१४-वयः (१)
	४-धारा (३)	७-भूतिः (२)	१२-अभ्वम् (३)	१५-वयोनाधः(२)
	५-आपः (४)	८-यज्ञः (३)	१३-मोहः (४)	१६-वयुनम् (३)
	इति सध्रीचीनानि-चत्वारि-अन्यानि	९-सूत्रम् (४)	इति सध्रीचीनानि-चत्वारि-अन्यानि	इति सध्रीचीनानि-त्रीणी अन्यानि
		इति सध्रीचीनानि-चत्वारि--अन्यानि		
१	४	४	५	३
* बलकोशाः				

*—इन सोलहों बलकोशों का विशद वैज्ञानिक विवेचन उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका तृतीयखण्ड में देखना चाहिये। यहाँ विस्तारभिया केवल इनके नाम ही उद्धृत कर दिये गये हैं।

१-विद्याबलम् (विभिन्नभावानामेकत्त्वसम्पादिनी विद्या, ततो ग्रन्थिबन्धविमोकलक्षणा मुक्तिः)।
२-मायाबलम् (एकस्यानेकत्त्वसम्पादिनी माया, ततः सीमाभावप्रवृत्तिः)।
३-जायाबलम् (जन्मभावप्रवर्त्तिनी जाया, ततः-उद्भवः)।
४-धाराबलम् (बलप्रवाहसञ्चालिनी धारा, ततः-बलसञ्चरः)।
५-आपोबलम् (ऋतभावप्रवर्त्तिन्यः-आपः, ततो बलव्याप्तिः)।
६-हृदयबलम् (सत्यभावप्रवर्त्तकं-हृदयम्, ततो बलसंघातः)।
७-भूतिबलम् (वित्त-पशु-प्रजा-गोत्र-वेदाभिवर्द्धिनी भूतिः, ततोऽभिवृद्धिर्बलानाम्)।
८-यज्ञबलम् (भोक्तृभोग्यसमन्वयकर्त्ता यज्ञः, ततो बलानामन्नान्नादभावः)।
९-सूत्रबलम् (स्थिरभोग्येषु भोक्तुराक्रान्तिप्रवर्त्तकं सूत्रम्, ततो—बलानां बलेषु व्याप्तिः)।
१०-सत्यबलम् (ज्ञानक्रियार्थसंयोजकं सत्यम्, ततो नामरूपप्रतिष्ठा)।
११-यक्षबलम् (रूपात्मिकाविभक्तेः प्रवर्त्तकं यक्षम्, ततो बलानामभिव्यक्तयः)।
१२-अभ्वबलम् (अमृते मृत्युप्रवेशकं बलमभ्वम्, ततोऽसतः सद्रूपेणावस्थानम्)।
१३-मोहबलम् (अभावे भावबुद्धिप्रवर्त्तको मोहः, ततो बलानामध्यासाः)।
१४-वयोबलम् (द्रव्यगुणकर्म्मप्रवर्त्तकं वयः, ततो भावप्रतीतिः)।
१५-वयोनाधबलम् (भावानां सीमाप्रवर्त्तको वयोनाधः, ततः-आकारप्रतीतिः)।
१६-वयुनबलम् (ज्ञाने विषयसंसर्गप्रवर्त्तकं वयुनम्-ततः-भूतप्रतीतिः)।

\+ \+ \+

शान्ति, तृप्ति, प्रसाद, इन तीन अचिन्त्य बलावस्थाओं का तो मुक्तिप्रवर्त्तक विद्याबल से सम्बन्ध है। एवं शेष मायादि षट्-परिग्रहों का शेष माया-जायादि पञ्चदश अविद्याबलों से सम्बन्ध है। इन १५ अविद्याबलों में से जाया-धारा-आदि चौदह अविद्याबल मायाबल के गर्भ में प्रतिष्ठित है। अतएव इन पञ्चदशबलकोशों में मायाबलकोश ही सर्वप्रधान माना गया है। परात्परसमुद्र में ऐसे असंख्य मायाबलकोश हैं—जिस प्रत्येक मायाबलकोश में अनन्त मायाबलगर्भित चतुर्दश चतुर्दश बलकोश प्रतिष्ठित हैं। परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय होता है, तत्प्रदेश सीमित हो जाता है। मायासीमित मायी वही परात्पर सर्वबलोपपन्न परात्पर कहलाया है, जो मायातीत सर्वबलविशिष्ट निष्कल परात्पर से अभिन्न है। इसप्रकार अमायी, मायी, भेद से एक ही परात्पर के सर्वबलविशिष्ट निष्कल परात्पर, सर्वबलोपपन्न निष्कल परात्पर, ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। और सब दृष्टियों से दोनों निष्कल परात्पर समतुलित हैं। अन्तर केवल यही है कि, मायातीत परात्पर केवल परात्पर है, एवं वह संख्या में एक है। परन्तु मायी परात्पर मायापुर के सम्बन्ध से 'परात्परपुरुष' है, एवं मायानन्त्य से वह अनन्त (असंख्य) है। अमायी परात्पर 'ब्रह्मवन' है, मायी परात्परपुरुष ब्रह्मवृक्ष है, जिसे 'अश्वत्थवृक्ष' कहा गया है, एवं जिसका भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड में विस्तार से विश्लेषण हुआ है, एवं जिसका निम्न लिखित शब्दों में उपवर्णन हुआ है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

मायाप्रकृतिमात्र से युक्त मायी परात्पर क्योंकि स्वस्वरूप से निष्कल है, वैविध्य का अभाव है, अतएव यह 'अव्यय' नाम से व्यवहृत हुआ है । कलाभाव बलचिति पर निर्भर है, बलचिति हृद्बलसापेक्षा है । हृद्बल अक्षरव्यापारसापेक्ष है । यह ठीक है कि, मायाबल के सम्बन्धमात्र से तत्परिच्छिन्न मायी पुरुष में हृदय–बलानुगत अक्षरव्यापार आरम्भ हो जाता है । चिति का उपक्रम हो जाता है, तथापि इस व्यापार से प्रथमा–वस्थापन्ना, मायोदय से उत्तरावस्थापन्ना निर्व्यापारात्मिका, अतएव कलात्मिका चिति से असंसृष्टा जो परात्परा–वस्था है, उसे निष्कल ही माना जायगा । यही निष्कल परात्परपुरुष इसी कलाभावविरह से एकरस रहता हुआ **'न वैविध्यमेति'** निर्वचन से 'अव्यय' कहलाया है । यही आगे जाकर हृद्बलरूप अक्षरव्यापार का आधार बनता हुआ कलासर्गप्रवृत्ति का कारण बनता है । दूसरे शब्दों में विशुद्धभावात्मक (ज्ञानात्मक) इसी निष्कल अव्यय से कला नाम के दूसरे परिग्रह से कलासर्ग का उपक्रम होता है । कलानुगता माया योगमाया कहलाई है । खण्ड–खण्डात्मिका माया उस आदिमाया से युक्त रहती हैं, अतएव इन्हें 'योगमाया' नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बनता है । इन यच्चयावत् योगमायाओं का आधार आदिमाया है, वह इन सब की अपेक्षा महती है, अतएव उसे 'महामाया' कहना अन्वर्थ बनता है । निष्कर्ष यही हुआ कि, सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति अमायी–असीम निष्कल परात्पर के यत्किञ्चित् जिस प्रदेश में माया परिग्रह का उदय हुआ । वह मायामय सर्वबलो–पहित, कलाभावशून्य, अतएव निष्कल–अव्यय नाम से प्रसिद्ध, महामाया सम्बन्ध से **'महेश्वर'** नाम से उपवर्णित, कलासर्गप्रवर्त्तक अखण्ड, अश्वत्थवृक्षात्मक तत्त्व ही परात्परपुरुष है, जिसे हम अपनी भाषा में **'परमात्मा'** कह सकते हैं । अमायी परात्परापेक्षया मायोपाधिक परमात्मा मायाभेद से अनन्त हैं । सर्वबल–विशिष्टरसमूर्त्ति अमायी परात्पर को एक निःसीम पट समझिए । इस पर बिन्दुरूपाकाराकारित असंख्य परमात्मा समझिए । उदाहरण के लिए एक श्वेत पत्र पर छोटे छोटे वृत्त बना दीजिए । वृत्तात्मिका रेखा हि–**'लेखा हि पुरः'** (शत० ६।३।३।२५।) के अनुसार भातिसिद्ध–कल्पित–रेखात्मक पुर (सीमा) है । रेखा केवल भातिसिद्ध है । सत्तादृष्टया अवारपारीण उस एक ही अखण्ड अमायी पत्र का साम्राज्य है । यदि रेखात्मक पुर से अवच्छिन्न वृत्तों पर दृष्टि डाली जाती है, तो वे पृथक् पृथक् से प्रतीत होते हैं । पृथक्रूप से प्रतीयमान ये मायोपाधिक परात्परपुरुष ही महेश्वर हैं । निम्न लिखित वचन एवं परिलेख मायापरिग्रहविशिष्ट इसी निष्कल परात्परपुरुष की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहे हैं—

१–न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्म्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।१।८।

२–न भूमिरापो न च वह्निरस्ति न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरञ्च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ॥
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥
—कैवल्योपनिषत् २।२३, २४,।

३–मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् ॥ श्वेताश्वरोपनिषत् ४।१०।

४–भावग्राह्यमनीडाख्यं भावाभावकरं शिवम् ।
कलासर्गकरं देवं ये विदुस्ते जहुस्तनुम् ॥ श्वे० उप० ५।१४।

५–तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ।
पतिं पतीनां परमं परस्तात्-विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥ श्वे० ६।७।

६–सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥ गी० ब्रा० पू० १।२६।

७–ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ गी० १५।१।

८–उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥—गी० १३।२२।

५७–'कला'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी प्रजापति—

जिस प्रकार निष्कलब्रह्म के सर्वबलविरहितरस, सर्वबलविशिष्टरस, भेद से 'निर्विशेष, परात्पर' ये दो विवर्त्त हैं। परात्पर नामक निष्कलब्रह्म के सर्वबलविशिष्ट, सर्वबलोपपन्न, भेद से परात्पर, पुरुष (अव्यय) ये दो विवर्त्त हैं, एवमेव सर्वबलोपपन्न पुरुष (परात्परपुरुषरूप महेश्वर) के सर्वबलोपपन्न, सर्वधर्म्मविशिष्ट भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। सर्वबलोपपन्न महेश्वर अव्ययपुरुष नाम से प्रसिद्ध है, एवं सर्वधर्म्मविशिष्ट महेश्वर षोडशी नाम से प्रसिद्ध है। षोडशी की ही मायापरिग्रहमात्रावच्छिन्ना अवस्था अव्ययमहेश्वर है, षोडशी की ही कलापरिग्रहावच्छिन्ना अवस्था षोडशीमहेश्वर है। साथ ही यह और स्पष्ट कर लीजिए कि, परात्पर के गर्भ में परात्परपुरुषरूप जिन असंख्य महेश्वरों की भुक्ति बतलाई गई है, उनमें प्रत्येक में माया–कला–गुण–विकरादि ६ ओं चिन्त्य परिग्रहों का वैसा ही समन्वय है, जैसा समन्वय प्रकृत में केवल एक मायापरिग्रह से युक्त एक महेश्वर की संस्था के साथ बतलाया जायगा। अनन्त महेश्वरों में से केवल एक महेश्वर को लक्ष्य मान कर ही हमें आगे की प्राजापत्यसंस्थाओं का समन्वय करना है। अमायी सर्वबलविशिष्ट रसमूर्त्ति निष्कल परात्पर के जिस प्रदेश में मायाबल का उदय हुआ, तदवच्छिन्न रसबलात्मक मायीप्रदेश निष्कल अव्यय कहलाया, यहाँ तक एक स्थिति का विश्लेषण हुआ। अब आगे क्या हुआ !, इस प्रश्न की मीमांसा कीजिए।

मायासीमा के उदित होते ही मायावच्छिन्न परात्पर (पुरुष) प्रदेश में परिधि, केन्द्र, ये दो भाव प्रादुर्भूत हो गए। परिधि में व्याप्त रसबल शरीर है, केन्द्रावच्छिन्न रसबल आत्मा है। इसप्रकार मायोदय-मात्र से इस मायी पुरुष में शरीर, आत्मा, ये दो भाव उत्पन्न हो गए। अतएव यह मायीमहेश्वर आत्मन्वी

(शरीरविशिष्ट आत्मा, प्रजापति) कहलाया। इस से पहले केवल आत्मा ही आत्मा था। माया के अभाव से हृदय, और परिधिरूप आत्मा, तथा शरीर, इस द्वैतभाव का अभाव था। अमायी में हृदय नहीं था, इसका तात्पर्य्य है--कोई नियत हृदय नहीं था, अपितु वह सम्पूर्णरूप से हृदयरूप ही था। महान् और अणु का पार्थक्य न था। जो ही महान् था, वही अणु था। परन्तु मायीपुरुष में केन्द्रावच्छिन्न वही तत्त्व आत्मा बन गया, परिध्यवच्छिन्न वही तत्त्व शरीर (आत्ममहिमा) बन गया। परिधिमण्डल में भी वही रस बल, हृदय में भी वही रसबल, रसबल से अतिरिक्त और तीसरा तत्त्व आयेगा कहाँ से। हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसबलसमष्टिलक्षण तत्त्व ही 'श्वोवसीयस्' नामक मन (अव्ययमन) कहलाया, जिसका तैत्तिरीय में- **'तदेतच्छ्वोवस्यसं ब्रह्म'** (तै० ब्रा० २।२।६।१०।) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। यही काममय मन, किंवा अव्ययमनोऽनुगत कामभाव सृष्टि का प्रथम 'रेत' माना गया है * ।

मायाबल के उदित होते ही हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। इस हृदयरूप हृदयबल का ही नाम 'प्रकृति' है। हृदयावच्छिन्न पुरुष स्थितिरूप है, हृदयबलरूपा प्रकृति गतिरूपा है। दोनों सदैव प्रादुर्भूत हैं- **'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि-अनादी उभावपि'**। गतिरूपा इस प्रकृति के गतिपञ्चकभेद से स्थिति, गति, आगति, स्थितिगर्भिता गति, स्थितिगर्भिता आगति, ये पाँच विवर्त्त हो जाते हैं। पुरुष भी रसबलात्मक है, हृदयबलरूपा प्रकृति भी रसबलात्मिका है। दोनों के स्वरूप में अन्तर यही है कि, पुरुष बलगर्भितरसप्रधान है, प्रकृति रसगर्भितबलप्रधाना है। रसप्रधान पुरुष स्थितिप्रधान है, बलप्रधाना प्रकृति गतिप्रधाना है। बलप्रधाना इस प्रकृति में रस और बल दोनों हैं। अतएव आगे जाकर इसके भी दो विवर्त्त हो जाते हैं। बलगर्भिता रसप्रधाना प्रकृति रसप्रकृति है, रसगर्भिता बलप्रधाना प्रकृति बलप्रकृति है। रसप्रधाना प्रकृति रसप्रधान-पुरुष की अनुग्राहिका है, बलप्रधाना प्रकृति बलप्रधानपुरुष की अनुग्राहिका है। रसप्रकृतिविशिष्ट रसपुरुष मुक्तिप्रवर्त्तक बनता है, बलप्रकृतिविशिष्ट बलपुरुष सृष्टिप्रवर्त्तक बनता है।

रसप्रधान वही पुरुष अमृतपुरुष है, यही परपुरुष है। बलप्रधान वही पुरुष मृत्युपुरुष है, यही अपरपुरुष है। रसप्रधाना वही प्रकृति अमृता प्रकृति है, परपुरुषानुगता वही प्रकृति पराप्रकृति है। बलप्रधाना वही प्रकृति मर्त्याप्रकृति है, अपरपुरुषानुगता वही प्रकृति अपराप्रकृति है। इसप्रकार रस-बल के तारतम्य से बलप्रधाना-गतिलक्षणा प्रकृति के परा, अपरा, भेद से दो विवर्त्त हो जाते हैं। जो पञ्चगति-विभाग पराप्रकृति के हैं, वे ही अपरा के हैं। जो नाम पराप्रकृति के पञ्चविभागों के हैं, वे ही नाम अपरा-विभागों के हैं। गतिसमष्टिरूप स्थिति नामक प्रथम विभाग ब्रह्मा नाम से, गतिविभाग इन्द्र नाम से, आगति विभाग विष्णु नाम से, स्थितिगर्भित गतिविभाग अग्नि नाम से, एवं स्थितिगर्भित आगतिविभाग सोम नाम से व्यवहृत हुआ है। ये ही पाँच विभाग अपराप्रकृति के हैं। इसप्रकार हृदयबलरूप रस-बलात्मक, गतिलक्षण एक ही प्रकृतितत्त्व के आरम्भ में परा, अपरा, दो विभाग, एवं अवान्तर विभागदृष्ट्या दस विभाग हो जाते है। यही दशकल विराट्-लक्षण प्रकृतितत्त्व है, जिसका आगमशास्त्र में 'दशमहाविद्या'

---

* कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥

—ऋक् सं० १०।१२६।४।

रूप से विश्लेषण हुआ है, एवं जिसके इन दसों विवर्त्तों का भक्तिपरीक्षा–उत्तरखण्डान्तर्गत **'निदानविद्यारूप-प्रथमोपाख्य'** प्रकरण में विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। प्रकृति के गत्यादि पञ्चभावों के समन्वय के लिए तत्प्रकरण पर एक बार अवश्य दृष्टि डाल लेनी चाहिए। विस्तारभय से यहाँ उन प्रकृति–पुरुष कलाओं के नाम मात्र उद्धृत कर दिए गए हैं।

हृदयबलात्मिका अमृता प्रकृति **'अक्षर'** है, मर्त्या प्रकृति **'क्षर'** है। क्षरगर्भित अक्षर ही **'चितिं करोति, चिनोति या सा, चीयते अनया सा'** निर्वचन से 'चेतना' है। हृदयावच्छिन्न आत्मरूप रसप्रधान मनोमय पुरुष सीमित बनता हुआ **'एकोऽहं बहु स्याम्'** कामना से युक्त हो जाता है, जिस कामना का–**'कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्'** (ऋक्सं० १०।१२६।४।) इत्यादि रूप से विश्लेषण हुआ है। यह कामना रस-बल के तारतम्य से बलगर्भिता **रसकामना**, रसगर्भिता **बलकामना**, भेद से दो भागों में विभक्त हो जाती है। रसकामनाद्वारा हृदयबलरूपा रसप्रधाना क्षरगर्भिता अक्षरप्रकृति से हृदयस्थ मनोमय पुरुष पर परिध्यवच्छिन्न-बलगर्भित रस की चिति होती है, बलकामना के द्वारा हृदयबलरूपा बलप्रधाना अक्षरगर्भिता क्षरप्रकृति से रसगर्भित बल की चिति होती है। रसकामना **मुमुक्षा** नाम से, बलकामना **सिसृक्षा** नाम से व्यवहृत हुई है। मुमुक्षाकामानुगता रसचिति **सहचरबलयुक्ता–रसचिति, सुप्तबलयुक्ता-रसचिति**, भेद से दो भागों में विभक्त रहती है, यही अन्तश्चितिद्वयी है। यही मुक्ति का आलम्बन है। सिसृक्षानुगता बलचिति **जाग्रद्रसयुक्ता–बलचिति, सुप्तरसयुक्ता–बलचिति**, भेद से दो भागों में विभक्त रहती है, यही बहिश्चितिद्वयी है। यही सृष्टि का आलम्बन है। उभय चिति के मध्य में प्रतिष्ठित, उभयचित्य-वच्छिन्न मनोमय पुरुष ही इन चारों चितियों से चिदात्मा बन रहा है। इसप्रकार आरम्भ में निष्कल बना रहने वाला पुरुष प्रकृतिद्वारा होने वाली कलात्मिका चितियों से पञ्चकल चिदात्मा बन जाता है। इस कला-प्रवृत्ति का श्रेय बल की चिति–अवस्था को ही है, जो तृतीय अवस्था मानी गई है। सुप्तबलावस्था निर्विशेष से सम्बन्ध रखती थी, जाग्रद्रूप सहचरबलावस्था परात्पर से सम्बन्ध रखती थी, एवं चितिरूपा बलावस्था इस मायीपुरुष से सम्बन्ध रख रही है (६७ पृ०)। सुप्तबलयुक्ता रसचिति **'आनन्द' है**, सहचरबलयुक्ता रसचिति **'विज्ञानम्'** है। आनन्द, विज्ञानचिति ही रसचिति है, यही अन्तश्चिति है, यही क्षरगर्भित-अक्षरानुगत मुक्तिसाक्षी अव्ययात्मा है, यही परपुरुष है, तदनुगता पराविद्या ही अक्षरविद्या है, यही आगमविद्या है, जिसका आगमशास्त्र में विश्लेषण हुआ है। जाग्रद्रसयुक्ता बलचिति **'प्राणः'** है, सुप्तरसयुक्ता बलचिति **'वाक्'** है। प्राणवाक् चिति ही बलचिति है, यही बहिश्चिति है, यही अक्षरगर्भित-क्षरानुगत सृष्टिसाक्षी अव्ययात्मा है, यही अपरपुरुष है, तदनुगता अपराविद्या ही क्षरविद्या है, यही निगमविद्या है, जिसका निगमशास्त्र में विश्ले-षण हुआ है *। इन चारों कलाओं के मध्य में मनोमय तत्त्व प्रतिष्ठित है, जिसका 'देहलीदीपकन्याय' से उभय चितियों से सम्बन्ध है। आनन्दविज्ञानघन वही अव्ययात्मा **ज्ञानात्मा** है, यही संकेतभाषा में **'विद्या'** कहलाया है। मनोरूप अव्ययात्मा **'कामात्मा'** है, यही **'काम'** है। प्राणवाग्रूप वही अव्ययात्मा **कर्म्मात्मा** है, यही **'शुक्रम्'** है। प्रकारान्तरेण आनन्दविज्ञानमनोरूप, क्षरगर्भित अक्षरानुगत वही अव्ययात्मा मुक्ति-साक्षी है। मनःप्राणवाग्रूप, अक्षरगर्भित क्षरानुगत वही अव्ययात्मा सृष्टिसाक्षी है। आनन्दः 'आनन्दः' है।

---

* देखिए, भक्तिपरीक्षा उत्तरखण्ड–निदानप्रथमोपाख्यान्तर्गत 'निदानक्षेत्रभूत–निगमागमपुरुष' नामक परिच्छेद।

विज्ञानं चित् है, मनः-प्राण-वाक्-की समष्टि 'सत्' है। एवं यही सच्चिदानन्दब्रह्म, है, यही उद्बुद्ध सच्चिदानन्दब्रह्म है, जो उन्मुग्ध सच्चिदानन्दरसैकघन अमायी निष्कल परात्पर से अभिन्न है।

तत्त्व यही निकला कि, कलापरिग्रहसहयोग से हृदयबलात्मिका पराप्रकृति (अक्षर) पञ्चकला बन गई, अपराप्रकृति पञ्चकला बन गई, दोनों के व्यापार से होने वाली अन्तश्चिते-बहिश्चिति से केन्द्रानुगत मनोमयपुरुष भी पञ्चकल बन गया। सम्भूय मायी-हृदयबलावच्छिन्न पुरुष अपने ही रस-बलों के चितिभावों से पञ्चदशकल बन गया। इन १५ हों कलाओं की मूल प्रतिष्ठा स्वयं निष्कल मायी परात्पर पुरुष बना, जिसे पूर्व में हमनें कलासर्गप्रवर्त्तक बतलाया है। स्मरण रहे, ये कलाभाव भावात्मक हैं। क्योंकि 'भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः' (गी० १०।५।) के अनुसार अव्ययसृष्टि (कलासृष्टि) भावसृष्टि ही कहलाई है। संसृष्टिलक्षणा सृष्टि ही वास्तविक सृष्टि है, जिसे गुण-विकार सृष्टि कहा जाता है, एवं जिसका स्पष्टीकरण अनुपद में ही होने वाला है। बलों की ग्रन्थिबन्धनावस्था नाम की एक अवस्था अभी शेष है (६७ पृ०)। उसीका सृष्टि (मैथुनीसृष्टि) से सम्बन्ध है। भावप्रधाना पुरुषसृष्टि तो तत्त्वतः आत्मसृष्टिकोटि में आती हुई असृष्टिरूपा मानसीसृष्टि ही मानी गई है। हृदयबलोद्भव से पूर्वावस्थापन्न, मायाबलोदय से उत्तरावस्थापन्न जो विशुद्ध-निष्कल परात्पर पुरुष है, वही इन १५ कलाभावों का आधार है। परात्परपुरुष अमात्रलक्षणा अर्द्धमात्रा है, अखण्ड मात्रा है, तुरीयपद है, विशेषतः अनुच्चार्य्या है। तत्र प्रतिष्ठित पञ्चकल अव्यय **अकार** है, तदनुगत पञ्चकल अक्षर (पराप्रकृति) **उकार** है, तदनुगत तदभिन्न पञ्चकल क्षर (अपराप्रकृति) मकार है, समष्टि ओङ्कार है। परात्परपुरुष परात्पर है, पञ्चकल अव्ययपुरुष पुरुष है, उभयप्रकृति प्रकृति है। परात्पर, पुरुष, प्रकृतिविशिष्ट सकलतत्त्व (षोडशीकलतत्त्व) ही षोडशीप्रजापति है। यही षोडशीपुरुष विश्व का दूसरा आरम्भक है। परात्पराविनाभूत अव्यय विश्व का अधिष्ठान (आलम्बन कारण-असमवायिकारण) है, अक्षर निमित्तकारण है, क्षर समवायिकारण (उपादानकारण) है। यही योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का प्रथम दृष्टिकोण है। योगमायात्मिका षोडशकला ही इस षोडशी-योगेश्वर की मूलप्रतिष्ठा है। निम्न लिखित वचन इसी षोडशी महेश्वर का स्वरूप-स्पष्टीकरण कर रहे हैं—

१-यस्माज्जातं न पुरा किं च नैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ यजुः ३२।५।

२-यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी॥ यजुः ८।३६।

३-"षोडशकलः सोम्य! पुरुषः" (छा० उप० ६।७।१।)।

४-"इहैवान्तः शरीरे सोम्य! स पुरुषः, यस्मिन्नेताः षोडशकला प्रभवन्ति॥
—प्रश्नोपनिषत् ६।२।

'य आविवेश भुवनानि विश्वा' वाक्य को लक्ष्य बनाइए। वह स्वयं षोडशी है, एवं वह षोडशी भुवनों में प्रविष्ट है। वे भुवन कौन से, जिनमें वह प्रविष्ट है, जिस भुवनप्रवेश का गीता ने भी-'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (गीता १५।१७।) रूप से समर्थन किया है?, प्रश्न का उत्तर

है—प्रतिमाषोडशी, जिसका अनुपद में हीं विश्लेषण होने वाला है। अभी इस सम्बन्ध में यही जान लेना पर्य्याप्त होगा कि, स्वयम्भू, परमेष्ठी, सूर्य्य, चन्द्रमा, पृथिवी, इन पाँच पर्वों की समष्टि सप्तभुवनात्मक एक भुवन है। उस षोडशी के गर्भ में ऐसे एक सहस्र भुवन हैं, जिस साहस्री का मूलकारण वेद-लोक-वाक् नाम के तीन सहस्र विवर्त्त माने गए हैं *। अन्य निबन्धों में प्रतिपादित साहस्रीविज्ञान के सम्बन्ध में प्रकृत में यही जान लेना अलं होगा कि, महामायावच्छिन्न हृदयस्थ षोडशीप्रजापति का केन्द्र से परिधिपर्य्यन्त अर्क (रश्मि) रूप से वितान होता है। इन आत्माओं से मायामण्डल उसी प्रकार परिपूर्ण रहता है, जैसे सौरमण्डल में सूर्य्यकेन्द्र से विनिर्गत रश्मियाँ व्याप्त रहतीं हैं। इसी परिपूर्ण रश्मिभाव का वैज्ञानिकों नें कारणविशेष से सहस्र संख्या पर अवसान मान लिया है। प्रतिरश्मि में केन्द्रस्थ षोडशी की अभिव्याप्ति है। रश्म्यवच्छिन्न षोडशी ही प्रतिमाषोडशी है। यही 'उपेश्वर' कहलाया है। जिस प्रकार एक परमेश्वर (अमायी परात्पर) के गर्भ में अनन्त महेश्वर (षोडशी) हैं, एवमेव प्रत्येक महेश्वर के गर्भ में एक एक सहस्र उपेश्वर हैं। वृक्षधिया महेश्वर अश्वत्थवृक्षेश्वर है, तो शाखाधिया उपेश्वर बल्शेश्वर है। एक सहस्र बल्शेश्वरावच्छिन्न एक सहस्र भुवनों में वह अश्वत्थब्रह्म प्रविष्ट है, 'य आविवेश भुवनानि विश्वा' से इसी स्थिति का विश्लेषण हुआ है। इसी सहस्रबल्शाव्याप्ति का निम्न-लिखित वचन, तथा परिलेख से स्पष्टी करण हो रहा है।

त इन्निण्यं हृदयस्य प्रकेतैः सहस्रबल्शमभि सं चरन्ति।
यमेन ततं परिधिं वयन्तोऽप्सरस उपसेदुर्वसिष्ठाः ॥ ऋक्सं० ७।३३।६।

*** सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत्।**
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥
किं तत्सहस्रमिति ?—इमे लोकाः, इमे वेदाः अथो वागिति ब्रूयात्...।
—उपनिषद्भूमिका में इस विषय का वैज्ञानिक विश्लेषण देखना चाहिए।

*

१ | ❀ सर्वबलोपपन्नो निष्कलः परात्परपुरुषः] —परात्परः-अर्द्धमात्रा, (१)

*

२

१-आनन्दः (१)-सुप्तबलयुक्ता रसचितिः
२-विज्ञानम् (१४)-सहचरबलयुक्ता रसचितिः
} —ज्ञानात्मा (विद्या)

३-मनः (१३)-चितीनामाश्रयः]— कामात्मा (कामः)

४-प्राणः (१२)-जाग्रद्रसयुक्ता बलचितिः
५-वाक् (११)-सुप्तरसयुक्ता बलचितिः
} —कर्म्मात्मा (शुक्रम्)

} (२) —पञ्चकलोऽव्ययः- आलम्बनम् (पुरुषः) (अकारः)

*

३

१-अमृतो ब्रह्मा (१०)-गतिसमष्टिलक्षणा गतिः
२-अमृतो विष्णुः (९)-विशुद्धा आगतिः
३-अमृत इन्द्रः (८)-विशुद्धा गतिः
} —अन्तर्य्यामी

४-अमृतोऽग्निः (७)-स्थितिगर्भिता गतिः
५-अमृतः सोमः (६)-स्थितिगर्भिता आगतिः
} —सूत्रात्मा

} (३) —पञ्चकलोऽक्षरः- निमित्तम् (पराप्रकृतिः) (उकारः)

*

४

१-मर्त्यो ब्रह्मा (५)-गतिसमष्टिलक्षणा प्रतिष्ठा
२-मर्त्यो विष्णुः (४)-आगतिरूपा अशनाया
३-मर्त्य इन्द्रः (३)-गतिरूपो विक्षेपः
} —विश्वाधारः

४-मर्त्योऽग्निः (२)-उत्क्षेपणरूपो विकासः
५-मर्त्यः सोमः (१)-स्तम्भनरूपः संकोचः
} —विश्वम्भरः

} (३) —पञ्चकलः क्षरः— आरम्भकः (अपराप्रकृतिः) (मकारः)

*

} स एष परात्पर-प्रकृतिविशिष्टः पुरुषः षोडशकलो मायी महेश्वरः- षोडशी

५८–'गुण'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी सत्यप्रजापति, एवं 'विकार'–परिग्रहयुक्त आत्मन्वी यज्ञप्रजापति—

निष्कल, षोडशी, इन दो आरम्भणों के अतिरिक्त 'प्रतिमाषोडशी' शेष रह जाते हैं। दो शब्दों में इनके स्वरूप की भी मीमांसा कर लीजिए। स्मरण कीजिए मायादि षट्परिग्रहों का, जिनका पूर्व में उल्लेख हुआ है। मायापरिच्छेद से मायी, किन्तु निष्कल परात्परपुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, कलापरिग्रह से सकल षोडशी का प्रादुर्भाव हुआ, यही सहस्रवल्शात्मक अश्वत्थमूर्त्ति महेश्वरप्रजापति कहलाया। परात्परोपेत प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही सकल (षोडशकल) महेश्वर कहलाया। अब क्रमप्राप्त गुण, विकार, नाम के तीसरे चौथे परिग्रहों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जा रहा है।

बतलाया गया है कि, षोडशीपुरुष की अक्षर–क्षर नाम की दो प्रकृतियाँ हैं। आनन्दमनोविज्ञानरूप, रसचितिलक्षण, मुक्तिसाक्षी, परपुरुष से अनुगृहीत अक्षर पराप्रकृति है। एवं मनःप्राणवाग्रूप, बलचिति-लक्षण, सृष्टिसाक्षी, अपरपुरुष से अनुगृहीत आत्मक्षर अपराप्रकृति है। महामाया के गर्भ में प्रतिष्ठित कलापरिग्रह योगमायात्मक है। महामाया जहाँ गुणातीता है, वहाँ कलानुगता योगमाया गुणत्रयावच्छिन्ना है। गुणत्रयात्मिका योगमाया के सत्त्व–रज–स्तमो–गुण हीं 'गुण' नामक आत्मपरिग्रह हैं। कलासर्गात्मक पुरुषसर्ग में गुणत्रय उन्मुग्ध रहते हैं। गुणसर्गात्मक प्रकृतिसर्ग में ही गुणत्रय का उद्बोधन होता है। अतएव प्रकृति को ही गुणसर्ग की अधिष्ठात्री माना गया है। अक्षररूपा पराप्रकृति ही इस गुणत्रयी की जननी है। दूसरा है विकारपरिग्रह। गुणपरिग्रहात्मक अक्षर से संश्लिष्ट मर्त्यब्रह्मादिपञ्चकलोपेत क्षर विपरिणामी है। इसी से विकारपरिग्रह का उदय हुआ है। क्षर की मर्त्य ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम, इन पाँच मर्त्यकलाओं से क्रमशः–प्राणः, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नम, ये पाँच विकार उत्पन्न होते हैं। जब तक त्रैगुण्य का विकास नहीं होता, तब तक विकारोत्पत्ति को अवसर नहीं मिलता। अक्षर–द्वारा गुणत्रयी के उद्भूत होते ही क्षरद्वारा पाँच विकार उत्पन्न हो जाते हैं। यह पञ्चविकारसमष्टि ही पहिली भूतसृष्टि है। गुणत्रयी के आधार पर उत्पन्न होने से ही यह प्राणादिपञ्चकरूपा विकारसृष्टि 'गुणभूत' नाम से व्यवहृत हुई है। सांख्यपरिभाषा में यह गुणभूत ही 'पञ्चतन्मात्रा' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्राण **शब्दतन्मात्रा** है, आपः **स्पर्शतन्मात्रा** है, वाक् **रूपतन्मात्रा** है, अन्नादः **गन्धतन्मात्रा** है, अन्नं **रसतन्मात्रा** है। इसप्रकार प्रकृति के अक्षरभाग से गुणत्रयरूप गुणसर्ग का विकास हो जाता है, एवं प्रकृति के क्षरभाग से गुणभूतात्मक विकारसर्ग का विकास हो जाता है। कलासर्गात्मक भावसर्ग के अधिष्ठाता पुरुष (अव्यय) के आधार पर ही प्रकृति के द्वारा इन दोनों परिग्रहसर्गों का प्रादुर्भाव हुआ है, जैसाकि—"**विकारांश्च, गुणांश्चैव–विद्धि प्रकृतिसम्भवान्**," (गीता० १३।१६।) इत्यादि वचन से प्रमाणित है।

१—अव्ययः (पुरुषः)——कलासर्गप्रवर्त्तकः (भावसृष्टिः-अव्ययसृष्टिः)	—षोडशी-सर्गः
२—अक्षरः-(पराप्रकृतिः)—गुणसर्गप्रवर्त्तकः (गुणसृष्टिः–अक्षरसृष्टिः)	
३—क्षरः-(अपराप्रकृतिः)——विकारसर्गप्रवर्त्तकः (विकारसृष्टिः-क्षरसृष्टिः)	

अक्षरद्वारा प्रादुर्भूता गुणसृष्टि से युक्त होकर वही षोडशीप्रजापति 'सत्यप्रजापति' कहलाने लगता है। एवं क्षरद्वारा प्रादुर्भूता विकारसृष्टि से युक्त होकर वही सत्यप्रजापति 'यज्ञप्रजापति' कहलाने लगता है। इसप्रकार गुण-विकारपरिग्रह से दो प्राजापत्य-संस्थाओं का जन्म और हो जाता है। सत्यप्रजापति, और यज्ञप्रजापति के स्वरूप का थोड़ा विश्लेषण करना पड़ेगा। 'सहृदयं सशरीरं सत्यम्' ही सत्यं का तात्त्विक लक्षण है। पूर्वपरिच्छेद में बतलाया गया है कि, ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र, तीनों की समष्टि तो अन्तर्य्यामी है, एवं अग्नि-सोमसमष्टि सूत्रात्मा है। विष्णु आहरण करता हुआ 'हृ' है, इन्द्र विष्णु के द्वारा आगत वस्तु को खण्डरूप में परिणत कर बाहिर फैंकता हुआ 'द' है। आदानकर्म्माधिष्ठाता विष्णु 'आहरति' निर्वचन से 'हृ' है। विसर्गकर्म्माधिष्ठाता इन्द्र 'द्यति' निर्वचन से 'द' है। हृ-द, दोनों आदानविसर्गभावों का नियमन करने वाला स्थितिलक्षण ब्रह्मा 'यमयति' निर्वचन से 'यम्' है। 'हृ-द-यम्' रूप विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा की समष्टि ही 'हृदयम्' है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में 'हृदय-पृष्ठ' भेद से दो विभाग रहते हैं। केन्द्रविन्दु हृदय है, केन्द्राधार पर प्रतिष्ठित भूतपिण्ड (वस्तुपिण्ड) पृष्ठ है। केन्द्ररूप हृदय ही वस्तु का अन्तःस्थान है। अन्तःस्वरूप इसी हृदय (केन्द्र) में हृ-द-यम्-रूप-विष्णु-इन्द्र-ब्रह्मा नामक आगति-गति-स्थिति-तत्त्वों की प्रतिष्ठा है। यही तत्त्वत्रयी हृदय में हृ-द-यम्-रूप से (आदान-विसर्ग-प्रतिष्ठारूप से) प्रतिष्ठित रहती हुई पृष्ठपिण्ड का नियमन करती है। अतएव 'अन्तस्तिष्ठन्-हृदये-हृ-द-यं-रूपेणावस्थितः-सन्-नियमयति 'वस्तुपृष्ठं' निर्वचन से यह तत्त्वत्रयी 'अन्तर्य्यामी' नाम से व्यवहृत हुई है। पृष्ठ इन्द्राग्नीषोमात्मक है, यही सूत्रात्मा है। इन्द्र और अग्नि सत्यसूत्र है, सोम ऋतसूत्र है। उभयसूत्रात्मक पिण्डात्मा ही सूत्रात्मा है। ब्रह्माविष्णुइन्द्र की समष्टि हृदयं है, यही अन्तर्य्यामी है, यही नियतिचरब्रह्म है। सब इसी की चर्य्या से आक्रान्त हैं। प्रत्येक पृष्ठ का अन्तर्य्यामी तदनुरूपता से पृष्ठ का संचालन किया करता है। सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-ग्रह-नक्षत्र-मनुष्य-पशु-पक्षी-आदि सब हृदयस्थ-हृदयमूर्त्ति इसी अन्तर्य्यामी के नियतिदण्ड से दण्डित हैं। इसी महद्भय से सब अपने अपने नियत कर्म्मों में आरूढ हैं *। हम नहीं जानते, परन्तु वह भीतर बैठा हुआ सब कुछ सञ्चालन कर रहा है +। पृष्ठ इसका शरीर है। अतएव 'सहृदयं सशरीरम्' परिभाषानुसार गुणत्रयात्मक इस अक्षरतत्त्व को अवश्य ही सत्यप्रजापति कहा जा सकता है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

१-"तदेतत् त्र्यक्षरं 'हृदय' मिति। 'हृ' इत्येकमक्षरम्, 'द' इत्येकमक्षरम्, 'यम्' इत्येकमक्षरम्। तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव। स यो हैवमेतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद-'सत्यं ब्रह्मे' ति, जयतीमाँल्लोकान्"।

—(शत०१४।८।४,५,ब्रा०)।

---

*-भीषास्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्य्यः।
भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः॥
—तै० उप० २।८।१।

×-"यः पृथिव्यां तिष्ठन्, पृथिव्या अन्तरः, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी-शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति, स ते आत्मा-अन्तर्य्यामी-अमृतः"।
—शत०१४।६।७।७।

गतितत्त्व ही अक्षर है, प्राणतत्त्व ही गतितत्त्व है। यह प्राणात्मिका गति मनोरूपा स्थिति, एवं वाग्रूप-स्तम्भन, दोनों से अविनाभूत है। मनोरूपा स्थिति सामवेद है, प्राणात्मिका गति यजुर्वेद है, वाङ्मय स्तम्भन ऋग्वेद है। वाङ्मयी ऋक् मूर्त्तिभाव की, प्राणमय यजुः गतिभाव का, एवं मनोमय साम महिमाभाव का (तेजोमण्डल का) प्रवर्त्तक माना गया है। यही अक्षरवेद है, यही आत्मवेद है, जिसका उपनिषद्भूमिका में विस्तार से उपबृंहण हुआ है ÷। ब्रह्माक्षर पर प्रतिष्ठित इन्द्राविष्णु की अपूतत्त्व को लक्ष्य बना कर प्रतिस्पर्द्धा होती है। इससे ब्राह्मप्राण वेद-लोक-वाक्साहस्रीरूप में परिणत हो जाता है (८० पृ० *)। इसप्रकार अन्तर्य्यामी अक्षरसत्य गुणद्वारा वेदत्रयीरूप में परिणत हो जाता है। महामायात्मक अव्ययपुरुष गुणातीत बनता हुआ जहाँ निर्गुण ·|· है, वहाँ योगामायात्मक ब्रह्मनिःश्वसितवेदमूर्त्ति, अक्षरलक्षण सत्यात्मा (अन्तर्य्यामी) सगुण है। अतएव सत्यात्मरूप वेद त्रिगुणभावापन्न माने गए हैं ×। वेदतत्त्व अन्तर्य्यामी-सत्य से अभिन्न है, अतएव सत्यप्रजापति का निष्कर्ष निकलता है-'वेदप्रजापति', जैसाकि निम्न लिखित वचन से प्रमाणित है—

·||· "तद्यत्-तत्-सत्यं—'त्रयी सा विद्या' (शत० ६।५।१।१६।)।

पञ्चकल, गुणत्रयविशिष्ट (गुणपरिग्रहविशिष्ट) इस सत्यप्रजापति की गुणत्रयविशिष्ट, गुणत्रयोपपन्न, भेद से उसी प्रकार दो अवस्था हो जातीं हैं, जैसेकि सर्वधर्म्म-विशिष्ट पुरुष की सर्वधर्म्मविशिष्ट (परात्परपुरुष), सर्वधर्म्मोपपन्न (अव्ययपुरुष), ये दो अवस्था हो जातीं हैं। गुणत्रयविशिष्ट अक्षरप्रजापति के अन्तर्य्यामी-स्वरूप (ब्रह्मेन्द्रविष्णुस्वरूप) के आधार पर क्षरप्रजापति के विश्वाधारस्वरूप की प्रतिष्ठा है, एवं सूत्रात्मा के आधार पर विश्वम्भरस्वरूप प्रतिष्ठित है। मर्त्य ब्रह्मात्मिका प्रतिष्ठा, मर्त्य विष्णवात्मिका अशनाया, मर्त्येन्द्रात्मक विक्षेप, तीनों की समष्टि विश्वाधार आत्मा है। मर्त्याग्निरूप उत्क्षेपणात्मक विकास, मर्त्य सोमात्मक स्तम्भनरूप संकोच, दोनों की समष्टि विश्वम्भर है। अन्तर्य्यामी के आधार पर प्रतिष्ठित विश्वाधार प्रजापति

÷—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः, सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्, सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम्॥
—तै०ब्रा०३।१२।६।२।

* उभा जिग्यथुर्न पराजयेथा, न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।
इन्द्रश्च विष्णू यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥
ऋक् सं० ६।६६।८।

·|· अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते॥ (गी०१३।३१।)।

× त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन!।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ गी० २।४५।

·||· "त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः"

के व्यापार से सूत्रात्मा पर प्रतिष्ठित विश्वम्भर (अन्नान्नाद) द्वारा जो विकारपञ्चक उत्पन्न होता है, वही 'यज्ञ' तत्त्व है। विश्वम्भर की अग्नीषोमात्मिका यज्ञकला से ही सत्यात्मा का विश्व में वितान होता है, जैसाकि– 'त्रयी वा एषा विद्या यज्ञः' (शत० १।१।३।४।)—"ते देवा ऊचुः—यज्ञं कृत्वा सत्यं तनवामहै" (शत० ६।५।१।१८।) इत्यादि वचनों से प्रमाणित है। इसप्रकार त्रिगुण वेदात्ममूर्त्ति सत्यप्रजापति (अक्षर) ही गुणविशिष्ट है। यही अपने मर्त्य पञ्चकभाव से विकारात्मक (क्षरात्मक) बनता हुआ गुणोपपन्न बन कर यज्ञस्वरूप में परिणत हो जाता है। गीतादृष्टि से यों समन्वय कीजिए कि, अक्षरद्वारा ब्रह्म नामक 'क्षर' का विकास हुआ। क्षर से विश्वोपयिक कर्म्म का उद्भव हुआ। कर्म्मद्वारा अन्नान्नादसमन्वयरूप यज्ञ का आविर्भाव हुआ। यज्ञ से सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का आविर्भाव हुआ, जिस समन्वय का निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ॥
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः ॥
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो, यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥२॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि, ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥३॥
एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः ॥
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥४॥
—गीता ३।१०, १४, १५, १६ श्लो० ।

निष्कर्ष यही निकला कि, विकारपरिग्रहात्मक क्षरतत्त्व यज्ञप्रजापति है, गुणपरिग्रहात्मक अक्षरतत्त्व सत्यप्रजापति है, कलापरिग्रहात्मक अव्ययतत्त्व सत्यस्यसत्यम् है। प्रतिसञ्चरदशा में १५ हों कलाएँ निष्कल परात्परपुरुष में लीन हो जातीं हैं। यज्ञ (क्षर) सत्य (अक्षर) में, सत्य सत्यस्यसत्यम् में विलीन होजाता है। सञ्चरदशा में सत्यस्यसत्यम् (अव्यय) सत्यप्रजापति (अक्षर) का आधार है, सत्यप्रजापति यज्ञप्रजापति (क्षर) का आधार है। निम्न लिखित वचन इसी सर्वाधारभूत सत्यस्यसत्यम् का विश्लेषण कर रहे हैं—

(१)—यदक्षरं पञ्चविधं समेति युजो युक्ता अभियत् सं वहन्ति ।
'सत्यस्यसत्य' मनु यत्र युज्यते तत्र देवाः सर्व एकं भवन्ति ॥
—ऐतरेय आरण्यक २।३।८।

(२)—गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् ३।२।७।

(३)—"स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत्, यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति, एवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति। तस्योपनिषत्—'सत्यस्यसत्य' मिति। प्राणा वै (अक्षर—प्राणा वै) सत्यम्। तेषामेष (अव्ययः पुरुषः) सत्यम्"।

—बृ०आ०उप० २।१।२०।

(४)—"तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय॥
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्"।

—मुण्डकोपनिषत् १।२।१३।

(५)—"स्तनयित्नुरेवेन्द्रः, यज्ञः प्रजापतिः" (बृ०आ०उप० ३।६।६।)॥

* * *

१—कलात्मकोऽव्ययः—सत्यस्यसत्यम्—प्रजापतिः

२—गुणात्मकोऽक्षरः—सत्यप्रजापतिः

३—विकारात्मकः क्षरः—यज्ञप्रजापतिः

* * *

(१) अमृतो ब्रह्मा]—सत्त्वगुणविशिष्टः
(२) अमृतो विष्णुः
(३) अमृत इन्द्रः } —रजोगुणविशिष्टौ
(३) अमृत इन्द्रः
(४) अमृतोऽग्निः
(५) अमृतः सोमः } —तमोगुणविशिष्टाः

} —स एष गुणत्रयविशिष्टो गुणपरिग्रहविशिष्टो वा पञ्चकलोऽक्षरात्मा—सत्यप्रजापतिः

* * *

१-मर्त्यो ब्रह्मा-प्राणविकारयुक्तः]--सत्त्वगुणोपपन्नः

२-मर्त्यो विष्णुः-अब्विकारयुक्तः } —रजोगुणोपपन्नौ

३-मर्त्य इन्द्रः-वाग्विकारयुक्तः

} स एष गुणत्रयोपपन्नः सविकारो विकार-परिग्रहविशिष्टो वा क्षरात्मा-यज्ञप्रजापतिः

३-मर्त्य इन्द्रः-वाग्विकारयुक्तः

४-मर्त्योऽग्निः-अन्नादविकारयुक्तः } —तमोगुणोपपन्नाः

५-मर्त्यः सोमः-अन्नविकारयुक्तः

* * *

प्राणविकारः—शब्दतन्मात्रा (आकाशः)

अब्विकारः—स्पर्शतन्मात्रा (वायुः)

वाग्विकारः—रूपतन्मात्रा (तेजः)

अन्ना विकारः—गन्धतन्मात्रा (पृथिवी)

अन्नविकारः—रसतन्मात्रा (जलम्)

} —पञ्च गुणभूतानि पञ्चतन्मात्राः-विकारपरिग्रहः । तद्विशिष्टः-क्षरात्मा-यज्ञप्रजापतिः

* * *

५८-'अञ्जन'-परिग्रहात्मक आत्मन्वी विराट्प्रजापति, एवं 'आवरण'-परिग्रहात्मक आत्मन्वी विश्वप्रजापति—

मायापरिग्रह से आरम्भ कर विकारपरिग्रह पर्य्यन्त आत्मज्योति की विकासावस्था में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होने पाता, स्थूलभाव का समावेश नहीं होने पाता। परन्तु विकारानन्तर विकारों से उत्पन्न वैकारिक आवरणों से आत्मविकास अवरुद्ध हो जाता है। अतएव विकारों से उत्पन्न वैकारिक भावों को अवश्य ही आवरक होने से 'अञ्जन' कहा जा सकता है। यह अञ्जन गुणोपपन्न यज्ञप्रजापति (क्षरात्मा) के आधार पर प्रतिष्ठित है। गुणत्रयभेद के कारण इस अञ्जन के विभूति, पाप्मा,-आवरण, ये तीन भेद हो जाते हैं। सत्त्वगुणानुगत अञ्जन विभूति है, इससे भी आत्मविकासप्रसार में विशेष बाधा नहीं होती। अतएव इस विभूतिरूप प्रथम सत्त्वाञ्जन को अनावरण ही मान लिया जाता है। ईश्वरसंस्था में इसी सत्त्वाञ्जन की प्रधानता है। रजोगुणानुगत अञ्जन पाप्मा है, यही अञ्जन 'अञ्जन' कहलाया है। जीवसंस्था में इसी का प्राधान्य माना गया है। तमोगुणानुगत अञ्जन आवरण है, यही आवरण कहलाया है। जगत्संस्था में इसी का प्राधान्य है। श्वेत आदर्श (काच) दीपप्रभा के लिए विभूतिरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभाविकास अवरुद्ध

नहीं होता। कृष्ण आदर्श (काला काच) दीपप्रभा के लिए आवरणरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभा का अवरोध तो नहीं होता, किन्तु प्रभा मलिन (कृष्ण) हो जाती है। घन कृष्ण आदर्श (काले रङ्ग से रञ्जित काच) दीपप्रभा के लिए आवरणरूप अञ्जन है। इस से दीपप्रभा का विकास सर्वथा अवरुद्ध हो जाता है। इसप्रकार गुणत्रय-तारतम्य से एक ही अञ्जन तीन भावों में परिणत होता हुआ ईश्वर-जीव-जगद्भावों का अनुग्राहक बन रहा है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

६०–परमविराट्, और क्षुद्रविराट्—

प्राणादि पञ्च विकारक्षरात्मक यज्ञप्रजापति को गुणोपपन्न कहा गया है। विकारपरिग्रहविशिष्ट गुणभूतात्मक इस यज्ञप्रजापति के **विकारविशिष्ट, विकारोपपन्न**, भेद से उसी प्रकार दो विवर्त्त हो जाते हैं, जैसेकि गुणविशिष्ट प्रजापति के गुणविशिष्ट, गुणोपपन्न, भेद से दो विवर्त्त मानें गए हैं। विकार-विशिष्ट वही तत्त्व यज्ञप्रजापति है, विकारोपपन्न वही तत्त्व **'विराट्प्रजापति'** है, जिसे हम साञ्जन-प्रजापति कहेंगे। इस विराट्प्रजापति के **परमविराट्, क्षुद्रविराट्**, भेद से दो विवर्त्त हैं। परमविराट् ईश्वरविराट् है, तदंशभूत क्षुद्रविराट् जीवविराट् है। ईश्वरविराट् सत्त्वात्मक विभूति नामक अञ्जन से युक्त है, जोकि विभूतिरूप सत्त्वाञ्जन विकारक्षर की पाँचों प्राणादि कलाओं से उत्पन्न वेद–लोक–देव–पशु–भूत–भेद से पाँच भागों में विभक्त माना गया हैं।

६१–बहुब्रह्मात्मक एकाक्षर—

स्थिति का यों समन्वय कीजिए कि, गुणात्मक अक्षररूप सत्यात्मा, विकारात्मक क्षररूप यज्ञात्मा, दोनों अव्ययपुरुष की परा–अपरा प्रकृतियाँ मानीं गई हैं। दोनों वस्तुतः एक ही प्रकृतितत्त्व है। इसी की अव्यक्तावस्था अक्षर है, इसी को व्यक्तावस्था क्षर है। क्षर अक्षर की अपेक्षा अवश्य ही व्यक्त है, परन्तु वैकारिक विश्वापेक्षया इस क्षर को भी अव्यक्त ही माना जायगा। व्यक्त क्षर से परे अव्यक्त अक्षर है, व्यक्ताव्यक्त (क्षराक्षर) से परे सनातन अव्यय है *। सत्त्वरजस्तमोगुणों की साम्यावस्थारूपा अव्यक्तप्रकृति ही अक्षर है। एवं तीनों गुणों की विश्वोपादानभूता विषमावस्थारूपा व्यक्तप्रकृति ही क्षर है। अनेक विकारक्षररूप ब्रह्मों (विश्वोपादानभूत विकारक्षरों) को अपने गर्भ में रखने वाली विषमगुणात्मिका व्यक्तप्रकृति ही (क्षर ही) दर्शनभाषा में **'महान्'** कहलाई है। इसी आधार पर अव्यक्त से महान् (क्षर) का प्रादुर्भाव बतलाया जाता है ÷। विकारक्षर अनेक, इनका आधारभूत पञ्चकल क्षर एक, वह एकाक्षर से अनुगृहीत,

---

*–यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ॥
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१॥ (गीता १५।१८)
परस्तस्मात्तु भावोऽन्यो व्यक्तोऽव्यक्तात्–सनातनः ॥
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२॥ (गीता ८।२०)

÷–"बुद्धेरात्मा 'महान्' परः (कठ ३।१०)-महतः परमव्यक्तम् (कठ ३।११)–सत्त्वादधि महानात्मा (कठ ६।७)–अव्यक्ते महति तमसि द्योतयति"–इत्यादि।

इसी आधार पर-'भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहु ब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्' * यह निगम प्रतिष्ठित है। यही महान् सर्वजगत्प्रभव है ÷ । यही वैज्ञानिकों का आत्मक्षर है, एवं दार्शनिकों का महान् है।

६२—यज्ञप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन—

महान् से अहङ्कार उत्पन्न होता है। अहंभाव की योनि महान् ही माना गया है। इसी पर चिल्लक्षण अहं प्रस्फुटित होता है। अहंगर्भित महान् के अहंभाव के आधार पर (मनः-प्राण-वाङ्मय अहंभाव के मनोमय काम, प्राणमय तप, एवं वाङ्मय श्रमव्यापार से) पञ्चतन्मात्राओं का विकास होता है। दर्शनभाषा में महान् नाम से प्रसिद्ध वैज्ञानिकभाषा के आत्मक्षर से (आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँचों कलाओं से) उत्पन्न प्राणादि पञ्च विकारक्षर ही दर्शनभाषा की शब्द-स्पर्शादि पञ्चतन्मात्राएँ हैं, जोकि 'गुणभूत' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। ये गुणभूत सर्वथा अमूर्त्त हैं। सांख्यशास्त्र गुणभूतात्मिका पञ्चतन्मात्रा के द्वारा (विकारक्षरद्वारा) अव्यक्तप्रकृति (विकारजनक आत्मक्षर) को ही जगत् का कारण मान रहा है। वैशेषिक शास्त्र-सम्मत निरवयव परमाणु वस्तुतः सावयव हैं, जोकि 'अणुभूत' कहलाए हैं। गुणभूतों के सजातीय सम्बन्ध से ही अणुभूत (अणुपरमाणु) का विकास हुआ है। आत्मक्षर से उत्पन्न प्राणादि पञ्च विकारक्षर शुद्ध (अपञ्चीकृत) विकारक्षर हैं, ये ही गुणभूत हैं, अमूर्त्तभूत हैं। इन प्राणादि पाँचों विशुद्ध विकारक्षरों को समष्टि 'विश्वसृट्' है। इन पाँचों का आगे जाकर सजातीय सम्बन्धात्मक पञ्चीकरण होता है, जो कि प्रक्रिया 'सर्वहुतयज्ञ' कहलाई है। पाँचों में पाँचों की आहुति होती है। फलस्वरूप पञ्चीकृत प्राणादि पञ्च वैकारिक क्षरों का प्रादुर्भाव हो जाता है। अर्द्ध-अर्द्ध भाग में प्राणादि, शेष अर्द्ध अर्द्ध भाग में अबादि चारों गर्भीभूत रहते हैं। क्योंकि पञ्चीकृत प्रत्येक वैकारिक क्षर में आधे भाग में एक की, शेष आधे भाग में चारों की व्याप्ति है, अतएव तद्वादन्याय से *A* ये भी प्राणादि नाम से ही व्यवहृत हुए हैं। पञ्चीकृत, अतएव

---

*-एतद्धये वाक्षरं सर्वे देवाः सर्वाणि भूतान्यभिसम्पद्यन्ते। तदेतत्-ब्रह्म च, क्षत्रञ्च। अग्निरेव ब्रह्म, इन्द्रः क्षत्रम्। इन्द्राग्नी वै विश्वे देवाः। विड्विश्वे देवाः। तदेतत्-ब्रह्म-क्षत्रं-विट्। (शत० १०।४। ।६।)।

÷तदेष श्लोकोऽभ्युक्तः—

तद्ध स प्राणोऽभवत्-महान् भूत्वा प्रजापतिः।
भुजो भुजिष्या वित्त्वा यत् प्राणान् प्राणयत् पुरि ॥ इति।
—शत० ७।५।१।२

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥
—गीता० १४।३।

A-'वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः' (वेदान्तसूत्र २।४।२२।)।

पञ्चात्मक ये वैकारिक क्षर ही विज्ञानभाषा में **'पञ्चजन'** कहलाए हैं, जिनका अपञ्चीकृत विश्वसृजों के सजातीय सम्बन्ध से प्रादुर्भाव हुआ है। ये ही पञ्चीकृत, अतएव पञ्चावयवात्मक, अतएव च सावयव पञ्चजन दार्शनिकों के 'अणुभूत' हैं। आगे जाकर इन परमाणुओं के विजातीय समन्वय से **'रेणुभूत'** का प्रादुर्भाव होता है। तात्पर्य्य--पञ्चीकृत पञ्चजनों के विजातीय पञ्चीकरण से पञ्च-पञ्चात्मक जो अपूर्वभाव उत्पन्न होते हैं, वे पञ्च पञ्चीकृत पञ्चजन* हीं **'पुरञ्जन'** कहलाए हैं। पञ्चजनप्राण स्वयं पञ्चीकृत (पञ्चावयव) है। इसमें पञ्चीकृत अन्नादि चारों पुरञ्जनों की आहुति हुई। परिणाम यह हुआ कि, पञ्चीकृत प्राणपुरञ्जन में २५ अवयव हो गए। यही क्रम आगे के चारों पुरञ्जनों में घटित हुआ है। पञ्चीकृत पञ्चजनरूप ये पाँचों पुरञ्जन हीं क्रमशः वेद, लोक, देव, पशु, भूत, नाम से व्यवहृत हुए हैं। ये ही दर्शनभाषा के रेणुभूत हैं, जो विजातीय परमाणुओं (पञ्चजनों) के समन्वय के उदर्क हैं। इसी सम्बन्ध में दार्शनिकों नें यह व्यवस्था की है कि, प्रत्येक रेणुभूत में कम से कम ३ परमाणु रहते हैं, अधिक से अधिक ३० परमाणु रहते हैं। तात्पर्य्य-विजातीय परमाणुसंघ का ही नाम 'रेणुभूत' है। यहाँ पर तात्त्विकी सृष्टि का अवसान है, दूसरे शब्दों में विकारसृष्टि का अवसान है। इस से आगे भूतसृष्टि का आरम्भ होता है। गुण, अणु, रेणु, तीनों भूतविवर्त्त तत्त्वात्मक हैं। भूत, सत्त्व, दोनों तत्त्वभूतों के आधार पर प्रतिष्ठित भूत महाभूत हैं। सत्त्व अस्मदादि चर-अचर प्राणी हैं। हमारे उपादानरूप पञ्चमहाभूत भूत हैं, जो यौगिक हैं, मूर्त्त हैं, तत्त्व-मर्य्यादातिक्रान्त हैं। पञ्चीकृत पञ्च महाभूतों के मौलिकरूप तत्त्वात्मक पञ्चरेणुभूत हैं, रेणुभूत ही तार्किक-दर्शन (नैय्यायिक) का परमाणु है। रेणुभूत का मौलिक रूप पञ्च अणुभूत है, यही वैशेषिक का अणुपरमाणु है। रेणुभूत का मौलिक रूप पञ्च गुणभूत है। गुणभूतों का मौलिक रूप विकारभूत है, यही प्राधानिकों की पञ्चतन्मात्रा है। विकारभूतों का मौलिक रूप पञ्चकल क्षरात्मा है, यही प्राधानिकों का अहं-भावात्मक महान् है। क्षर का मौलिक रूप पञ्चकल अक्षरात्मा है, यही प्राधानिकों की अव्यक्तप्रकृति है। अक्षरात्मा का मौलिक रूप पञ्चकल अव्यय है, यही प्राधानिकों का पुष्करपलाशवन्निर्लेप पुरुष है। अव्यय का मौलिक रूप मायी निष्कल परात्परपुरुष है—**'सा काष्ठा सा परा गतिः'**। 'अत्र सर्वं एकीभवन्ति'। परात्परपुरुष से आरम्भ कर सत्त्वपर्य्यन्त मायादि ६ परिग्रहों का उपभोग हो रहा है। उत्तर उत्तर के परिग्रह में पूर्व पूर्व परिग्रहविशिष्ट आत्मन्वी **'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'** न्याय से प्रविष्ट हैं।

६३—षट्परिग्रहावच्छिन्न षट्संस्थ प्रजापति—

मायापरिग्रहयुक्त परात्परपुरुष का आत्मा रस है, शरीर बल है, रसबलविशिष्ट सर्वधर्म्म-विशिष्ट यह परात्पर ही **मायीमहेश्वर** है। कलापरिग्रहयुक्त अव्ययपुरुष आत्मा है, परा-अपरा-प्रकृतिरूप अक्षरक्षर शरीर है, तद्विशिष्ट षोडशी ही **षोडशीप्रजापति** है। मायीमहेश्वर, सकलषोडशी, दोनों की समष्टि अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति-**महेश्वरप्रजापति** है। महेश्वरप्रजापतिगर्भित गुणत्रयविशिष्ट अक्षरतत्त्व आत्मा है, गुणत्रयोपपन्न क्षरतत्त्व शरीर है, यही गुणपरिग्रहात्मक **सत्यप्रजापति** है, यही विश्वेश्वरप्रजापति है। महेश्वर-

---

*—यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्ये-आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्॥

—बृ० आ० उप० ४।४।१७।

विश्वेश्वरप्रजापतिगर्भित गुणत्रयोपपन्न क्षरात्मा आत्मा है, गुणभूतरूप विकारक्षरपञ्चक शरीर है, यही विकारपरिग्रहात्मक **यज्ञप्रजापति है,** यही उपेश्वर है । महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–गर्भित विकारात्मा आत्मा है, अणुभूत–रेणुभूतरूप–पञ्चजन–पुरञ्जन–समष्टि शरीर है, यही अञ्जनपरिग्रहात्मक **विराट्प्रजापति** है । महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–विराट्–गर्भित अणु–रेणु पञ्चक आत्मा है, पञ्चमहाभूत, एवं सत्त्वसमष्टि शरीर (विश्व) है, यही आवरणात्मक **विश्वप्रजापति** है ।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए । मायी परात्पर आत्मा है, षोडशी–सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व–पाँचों पर्व इसका शरीर है, यही आत्म–शरीरविशिष्ट प्रथम आत्मन्वी है, यही **मायी महेश्वरप्रजापति** है । परात्परगर्भित पुरुषतत्त्व आत्मा है, सत्य–यज्ञ–विराट्–विश्व, चारों पर्व इसका शरीर है, यही आत्म–शरीर–विशिष्ट द्वितीय आत्मन्वी है, यही **सकल षोडशीप्रजापति** है । परात्पर–पुरुषगर्भित अक्षरतत्त्व आत्मा है, यज्ञ–विराट्–विश्व, तीनों पर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट तृतीय आत्मन्वी है, यही **सगुण सत्यप्रजापति** है । परात्पर–पुरुष–अक्षरात्मगर्भित आत्मक्षरतत्त्व आत्मा है, विराट्–विश्व, दोनों पर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट चतुर्थ आत्मन्वी है, यही **सविकार यज्ञप्रजापति** है । परात्पर–पुरुष–अक्षर–आत्मक्षरगर्भित विकारक्षरतत्त्व आत्मा है, विश्वपर्व इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट पञ्चम आत्मन्वी है, यही **साञ्जन विराट्प्रजापति** है । परात्पर-पुरुष-अक्षर–आत्मक्षर–विकारक्षरगर्भित वैकारिक भूत तत्त्व आत्मा है, विश्वगर्भिता सत्त्वप्रजा इसका शरीर है, यही आत्मशरीरविशिष्ट षष्ठ आत्मन्वी है, यही **सावरण विश्वप्रजापति** है । सभी सर्वरूप हैं, सभी आत्मरूप हैं । निष्कल परात्पर आत्मा ही सर्वरूप में परिणत हुआ है । इन ६ ओं आत्मन्वी संस्थाओं का विज्ञान ही सर्वविज्ञान है, यही आत्मविज्ञान है, यही विश्वविज्ञान है । आत्मविचारनिष्ठ आचार्य्यों नें परस्पर विभिन्नरूपेण प्रतीयमान जिन जिन आत्मसंस्थाओं का साटोप समर्थन किया है, वे सब आत्मदर्शन तत्त्वतः सर्वथा अभिन्न, अतएव प्रामाणिक हैं ।

६४–तालिकाओं के माध्यम से सर्वविषय–समन्वय—

परात्परररूप मायी महेश्वरोपासक परात्परानुगामी बनते हुए गीतापथ के पथिक हैं । सकल अव्ययात्मोपासक पुरुषानुगामी बनते हुए वेदान्तपथ के पथिक हैं । आत्मक्षरानुगृहीत आत्मक्षरोपासक सत्यात्मानुगामी सांख्यपथ के पथिक हैं । आत्मक्षरानुगृहीत विकारक्षरोपासक यज्ञात्मानुगामी वैशेषिकपथ के पथिक हैं । विकारक्षरानुगृहीत वैकारिकतत्त्वोपासक विराडात्मानुगामी साम्प्रदायिकपथ के पथिक हैं । एवं वैकारिकक्षरानुगृहीत विश्वोपासक विश्वात्मानुगामी लोकपथ के पथिक हैं । आगे के परिलेखों से उक्त आत्मन्वी–विज्ञान का भलीभाँति स्पष्टीकरण हो जाता है ।

(१)

१-मायापरिग्रहः——मायी महेश्वरः	(आत्मन्वी)	—महेश्वरः	—चतुष्टयं वा इदं सर्व-मित्याहुः
२-कलापरिग्रहः——सकलः षोडशी	(आत्मन्वी)		
३-गुणपरिग्रहः——सगुणः सत्यः	(आत्मन्वी)	—विश्वेश्वरः	
४-विकारपरिग्रहः——सविकारो यज्ञः	(आत्मन्वी)	—उपेश्वरः	
५-अञ्जनपरिग्रहः——साञ्जनो विराट्	(आत्मन्वी)	—ईश्वरः	
६-आवरणपरिग्रहः——सावरणं विश्वम्	(आत्मन्वी)		

* * *

(२)

१-परात्परोपासकाः——परात्परपुरुषानुयायिनो गीतापथपथिकाः—बुद्धियोगिनः
२-षोडश्युपासकाः——पुरुषात्मानुयायिनो वेदान्तपथपथिकाः——ज्ञानिनः
३-आत्मक्षरोपासकाः——सत्यात्मानुयायिनः प्राधानिकपथपथिकाः——उत्तमा आस्तिकाः
४-विकारक्षरोपासकाः——यज्ञात्मानुयायिनो वैशेषिकपथपथिकाः——मध्यमा आस्तिकाः
५-वैकारिकक्षरोपासकाः—विराडात्मानुयायिनः सम्प्रदायपथपथिकाः-अवरा आस्तिकाः
६-विश्वोपासकाः——विश्वात्मानुयायिनो लोकपथपथिकाः——लोकायतिका नास्तिकाः

* * *

(३)

१-षोडशी[१]-सत्य[२]-यज्ञ[३]-विराड्[४]-विश्व[५]-शरीरीविशिष्टः-परात्परात्मा आत्मन्वी **'मायीमहेश्वरप्रजापतिः'**

२-सत्य[१]-यज्ञ[२]-विराड्[३]-विश्व[४]-शरीरविशिष्टः-परात्परगर्भितः-पुरुषात्मा-आत्मन्वी **'सकलःषोडशीप्रजापतिः'**

३-यज्ञ[१]-विराड्[२]-विश्व[३]-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुषगर्भितः-अक्षरात्मा-आत्मन्वी **'सगुणः सत्यप्रजापतिः'**

४-विराड्[१]-विश्व[२]-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षरगर्भितः-आत्मक्षरात्मा-आत्मन्वी-**'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'**

५-विश्व[१]-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षरगर्भितः-विकारक्षरात्मा-आत्मन्वी **'साञ्जनो विराट्-प्रजापतिः'**

६-सत्त्व-शरीरविशिष्टः-परात्पर-पुरुष-अक्षर-आत्मक्षर-विकारक्षरगर्भितः-वैकारिकात्मा-आत्मन्वी **'सावरणो विश्वप्रजापतिः'**

* * *

प्रकारान्तरेण—

(४)

१	मायावच्छिन्नो रसः (१)–आत्मा मायावच्छिन्नं बलम्(२)–शरीरम्	–आत्मशरीरविशिष्टः-आत्मन्वी-परात्परात्मा– **'मायी महेश्वरप्रजापतिः'**
२	परात्परगर्भितः पञ्चकलोऽव्ययः]–आत्मा अव्ययगर्भितः पञ्चकलोऽक्षरः, अक्षरगर्भितः पञ्चकलः क्षरः –शरीरम्	—आत्मशरीरविशिष्टः–आत्मन्वी–पुरुषात्मा– **'सकलः षोडशीप्रजापतिः'**
३	परात्पर–पुरुषगर्भितो गुणत्रयविशिष्टोऽक्षरः]—आत्मा परात्परपुरुषाक्षरगर्भितो गुणोपपन्नः क्षरः]—शरीरम्	—आत्मन्वी–अक्षरात्मा— **'सगुणः सत्यप्रजापतिः'**
४	परात्परपुरुषाक्षरक्षरगर्भितो गुणोपपन्नः क्षरः—आत्मा परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरगर्भितो विकारक्षरः—शरीरम्	—आत्मन्वी–आत्मक्षरात्मा— **'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'**
५	परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरगर्भितो विकारविशिष्टः–विकारक्षरः——आत्मा परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चजनपुरञ्जनात्मको वैकारिकक्षरः–शरीरम्	**विकारक्षरात्मा 'साञ्जनो-विराट्-प्रजापतिः**
६	परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरगर्भितः पञ्चजनपुरञ्जनात्मको महाभूतक्षरः—आत्मा परात्परपुरुषाक्षरात्मक्षरविकारक्षरपञ्चजनपुरञ्जनमहाभूतक्षरगर्भितं सत्त्वम्——शरीरम्	**वैकारिकात्मा 'सावरणो विश्व-प्रजापतिः'**

* * *

सर्वसंग्रहः—(५)

*—सर्वबलविरहितो रसः-ऐकान्तिको रसघनः—निर्विशेषः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः
(१)—सर्वबलविशिष्टो रसः-सर्वबलविशिष्टरसघनः-परात्परः, स एव अमायी निष्कलः परात्परः

} –विश्वातीतः 'परात्परः' सर्वबलविशिष्टैकरसघनः'-अमायी'– विशुद्ध आत्मा *

———*

(१)—सर्वबलविशिष्टो रसः-मायी परात्परः—परात्परः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः
(२)—सर्वबलोपपन्नो रसः—मायी परात्परः—पुरुषः, स एव मायी पुरुषो निष्कलः

} –विश्वसाक्षी 'परात्परपुरुषः'-सर्वबलोपपन्नो रसमूर्त्तिः 'मायी-आत्मन्वी **'मायी महेश्वरप्रजापतिः'** (१)

———*

(२)—सर्वबलोपपन्नो रसः—मायी परात्परः—पुरुषः, स एव षोडशी सकलः
(३)—सर्वधर्म्मविशिष्टो रसः-सकलः परमात्मा-षोडशी, स एव षोडशी सकलः

} –विश्वात्मा 'पुरुषः' सर्वधर्म्मविशिष्टो रसात्मकः-'सकल':-आत्मन्वी **'सकलः षोडशीप्रजापतिः'** (२)

———*

(३)—सर्वधर्म्मविशिष्टो रसः—सकलः परमात्मा ——षोडशी, स एव सत्यः सगुणः
(४)- सर्वधर्म्मोपपन्नं गुणविशिष्टं बलम्-विश्वाध्यक्षः-सत्यः, स एव सत्यः सगुणः

} –अन्तर्यामी 'अक्षरः'-सर्वधर्म्मगुणविशिष्टबलात्मकः—'सगुण': आत्मन्वी—**'सगुणः सत्यप्रजापतिः'** (३)

———*

(४)—सर्वधर्म्मोपपन्नं सर्वगुणविशिष्टं बलम्—विश्वाध्यक्षः-सत्यः, स एव यज्ञो सविकारः
(५)—सर्वगुणोपपन्नं सर्वविकारविशिष्टं बलम्-विश्वयोनिः—यज्ञः, स एव यज्ञो सविकारः

} –विश्वाधारः—'आत्मक्षरः'-सर्वगुणोपपन्नसर्वविकारविशिष्टः-बलात्मकः-'सविकारः'आत्मन्वी–**'सविकारो यज्ञप्रजापतिः'** (४)

———*

(५)—सर्वगुणोपपन्नं सर्वविकारविशिष्टं बलम्-विश्वयोनिः—यज्ञः, स एव विराट्—साञ्जनः
(६)—सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपपन्नं बलम्——विश्वात्मा—विराट्, स एव विराट्-साञ्जनः

} –विश्वम्भरः 'विकारक्षरः'—सर्वगुणगर्भितसर्वविकारोपपन्नबलात्मकः-'साञ्जनः'-आत्मन्वी–**'साञ्जनो विराट्प्रजापतिः'**(५)

———*

(६)—सर्वगुणगर्भितं सर्वविकारोपपन्नं बलम्—विश्वात्मा-विराट्, तदिदं विश्वं सावरणम्
(७)—सर्वगुण-सर्वविकार-सर्ववैकारिकं बलम्-विश्वम्—सत्त्वम्, तदिदं विश्वं सावरणम्

} –विश्वमूर्त्तिः–'वैकारिकक्षरः–सर्वगुण-विकार-वैकारिकोपपन्नः–बलात्मकः 'सावरणः' आत्मन्वी– **'सावरणो विश्वप्रजापतिः'** (६)

———*

* * *

(६)

विश्वातीतः–परात्परः–अमायी—	निष्कलः	अव्ययः	अक्षरः	आत्मक्षरः	विकारक्षरः (विश्वसृट्)	पञ्चजनः	पुरञ्जनः	पुरम्
	परात्परः पुरुषः–मायी–निष्कलः	आनन्दः	अमृतो ब्रह्मा	मर्त्यो ब्रह्मा	विशुद्धः प्राणः	पञ्चीकृतः प्राणः	पञ्चपञ्चीकृताः पञ्चविंशतिकलाः वेदाः	वेदात्मकः–आकाशः
		विज्ञानम्	अमृतो विष्णुः	मर्त्यो विष्णुः	विशुद्धा आपः	पञ्चीकृता आपः	लोकाः	लोकात्मको वायुः
		मनः	अमृत इन्द्रः	मर्त्य इन्द्रः	विशुद्धा वाक्	पञ्चीकृता वाक्	देवाः	देवात्मकं तेजः
		प्राणः	अमृतोऽग्निः	मर्त्योऽग्निः	विशुद्धोऽन्नादः	पञ्चीकृतोऽन्नादः	भूतानि	भूतात्मिका पृथिवी
		वाक्	अमृतः सोमः	मर्त्यः सोमः	विशुद्धमन्नम्	पञ्चीकृतमन्नम्	पशवः	पश्वात्मकं जलम्
	परात्परः	पुरुषः	अव्यक्तम्	महान्	पञ्चतन्मात्राः (गुणभूतानि)	विकाराः (अणुभूतानि)	वैकारिकाः (रेणुभूतानि)	जगत् (महाभूतानि)
	महेश्वरप्रजापतिः १	षोडशी प्रजापतिः २			सत्यप्रजापतिः ३	यज्ञप्रजापतिः ४	विराट्प्रजापतिः ५	विश्वप्रजापतिः ६

६५–प्रतिमाषोडशीप्रजापति के विविध विवर्त्त—

सत्य–यज्ञात्मक प्रतिमाषोडशी के प्रसङ्ग से षट्परिग्रहों का प्रासङ्गिक विश्लेषण किया गया। अब प्रकृत विषयभूत 'प्रतिमाषोडशी' की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। षोडशीपुरुषस्वरूप की मीमांसा करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि, परात्परोपेत–प्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही सकल षोडशी है, जिसमें माया, कला, नामक दो परिग्रहों का उपभोग हो रहा है। इस षोडशी के आत्मक्षरभाग से अक्षरद्वारा अव्ययालम्बन पर प्राणादि पाँच विकारक्षर उत्पन्न होते हैं। इन पाँचों की समष्टि को ही 'विश्वसृट्' कहा गया है। यही 'विश्वसृड्ब्रह्म' **'आभूप्रजापति'** है। जैसा स्वरूप षोडशी का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इसका है, अतएव इसे अवश्य ही षोडशी की 'प्रतिमा', अतएव 'प्रतिमा' षोडशी कहा जा सकता है। सत्यात्मक गुणत्रयविशिष्ट गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति (अक्षरात्मा) ही इसका मूलाधार है, अतएव इसे **'सत्यस्वयम्भू'** कहा जा

सकता है। इस सत्यस्वयम्भू के आधार पर विकारपरिग्रहात्मक आत्मक्षर के पञ्च विकारों के द्वारा पञ्च उपेश्वरों का प्रादुर्भाव होता है। विकारात्मक विश्वसृट्, तदुत्पन्न पञ्चजन, तदुत्पन्न पुरञ्जन, तद्-गर्भित पुर ही उपेश्वर हैं। इस प्रतिमाषोडशी के आधार पर उद्भूत पञ्चपुरात्मक पञ्चोपेश्वरों का 'उपेश्वरषोडशी' से सम्बन्ध है। प्रतिमाषोडशी मायी महेश्वर से अभिन्न है, उपेश्वरषोडशी मायीमहेश्वराविनाभूत इस प्रतिमाषोडशी के केन्द्र से बद्ध होता हुआ सहस्र संख्या में विभक्त है।

प्रतिमाषोडशी भी स्वयम्भू है, उपेश्वरषोडशी भी स्वयम्भू है। नामसाम्यमात्र से दोनों को एक तत्त्व मान बैठना असङ्गत है। एक मायावृत्त में प्रतिमाषोडशीस्वयम्भू एक है, एवं यही सत्यस्वयम्भू परोरजा, आभू-प्रजापति, अव्यक्तस्वयम्भू, विश्वसृट्, आदि नामों से प्रसिद्ध है। एक मायावृत्त में उपेश्वरस्वयम्भू एक सहस्र हैं, ये ही 'पुण्डीरस्वयम्भू' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। पुण्डीरात्मक (शाखात्मक) एक सहस्र उपेश्वर-स्वयम्भू-भावों के सम्बन्ध से ही परोरजास्वयम्भू से अविनाभूत मायी महेश्वरलक्षण अश्वत्थब्रह्म 'सहस्रवल्शेश्वर' कहलाया है। इस विभेद को लक्ष्य बना कर ही प्रतिमाषोडशी की कारणता का समन्वय करना चाहिए।

दूसरी दृष्टि से समन्वय कीजिए। अक्षर को सगुण सत्यप्रजापति कहा गया है, आत्मक्षर को सविकार-यज्ञप्रजापति माना गया है। अव्यय-अक्षर-क्षरात्मक षोडशीपुरुष के केन्द्र में प्रतिष्ठित पञ्चकल अक्षरतत्त्व ऊर्ध्व अवस्थित ज्ञानमय अव्यय से भी युक्त है, अधोऽवस्थित अर्थमय क्षर से भी युक्त है। अव्यय की पञ्चकलाओं से, क्षर की पञ्चकलाओं से, स्वानुगत पञ्चकलाओं से परात्परालम्बन पर प्रतिष्ठित सगुण अक्षरविवर्त्त भी षोडशी की भाँति षोडशकल बन रहा है। जैसा कलाविभाग षोडशी में है, वैसा ही कला-विभाग इसमें है, यही अक्षर का प्रतिमात्त्व है। अतएव इसे उस अव्ययषोडशी की अपेक्षा अवश्यमेव 'प्रतिमाषोडशी' कहा जा सकता है। अव्ययज्ञान से सर्वज्ञ, क्षरार्थ से सर्ववित्, एवं स्वस्वरूप से सर्वशक्तिमान् बना हुआ सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित्, ज्ञानक्रियार्थमय अक्षरषोडशी ही क्षर के द्वारा विश्वकर्त्ता बनता है *।

अव्यय, अक्षर, आत्मक्षरसमष्टि का षोडशीधर्म्म तीन दृष्टियों से समन्वित है। अव्ययदृष्ट्या भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वालम्बन है। अक्षरदृष्ट्या भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वकर्त्ता है। क्षरदृष्ट्या भी आत्मा षोडशी है, यह षोडशी विश्वप्रभव है। प्रज्ञामात्रात्मिका ज्ञानमात्रा विश्व का आलम्बन बना करती है। प्राणमात्रात्मिका क्रियामात्रा विश्वकर्त्री बना करती है, एवं भूतमात्रात्मिका अर्थमात्रा विश्व की उपादान बना करती है। इसी दृष्टि से तीनों की कारणता व्यवस्थित हुई है। परात्पररूप अखण्ड धरातल पर प्रतिष्ठित अव्यय-अक्षर-क्षर तीनों अभिन्न हैं, अविनाभूत हैं, अयुतसिद्ध हैं। अतएव किसी भी पर्व को लक्ष्य बनाइए, तीनों का ग्रहण हो जायगा। अतएव त्रिसमष्टिरूप षोडशी के तीन विवर्त्त हो जायँगे। अव्ययदृष्ट्या क्षराक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी ज्ञानप्रधान है, यही **'षोडशी'** कारण है। अक्षरदृष्ट्या अव्ययात्मक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी क्रियाप्रधान है, यही **'प्रतिमाषोडशी'** है। क्षरदृष्ट्या अव्ययाक्षर को गर्भ में रखने वाला षोडशी अर्थप्रधान है, यही 'उपेश्वरषोडशी' है। व्यक्ताव्यक्तातीत सनातन षोडशी षोडशी है, अव्यक्त षोडशी प्रतिमाषोडशी है, व्यक्त षोडशी उपेश्वरषोडशी है। तीनों में से प्रत्येक में सर्वप्रपञ्च अन्तर्भूत है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

---

* तदेतत्सत्यं-यथा सुदीप्तात्-पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषत् २।१।१।

(१)-सनातनषोडशी-(अव्ययः—ज्ञानप्रधानः)—(आलम्बनम्)

परात्परः

आनन्द-विज्ञान-मनः-प्राण-वाग्भावाः-ज्ञानम् (अव्ययोऽव्ययः)
ब्रह्मेन्द्रविष्णु-अग्निसोमभावाः-अमृताः-क्रिया (अक्षरोऽव्ययः) —अव्ययषोडशी-'षोडशी'
ब्रह्मेन्द्रविष्णु-अग्निसोमभावाः-मर्त्याः-अर्थः (क्षरोऽव्ययः)

❀ ❀ ❀

(२)-प्रतिमाषोडशी—(अक्षरः—क्रियाप्रधानः)-कर्त्ता

परात्परः

ब्रह्मेन्द्र विष्ण्वग्निसोमभावा अमृताः-क्रिया (अक्षरोऽक्षरः)
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः-ज्ञानम् (अव्ययोऽक्षरः) —अक्षरषोडशी-'प्रतिमाषोडशी'
ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमभावा मर्त्याः-अर्थः (क्षरोऽक्षरः)

❀ ❀ ❀

(३)-उपेश्वरषोडशी—(क्षरः—अर्थप्रधानः)—प्रभवः

ब्रह्मेन्द्रविष्ण्वग्निसोमभावा मर्त्याः-अर्थः (क्षरः क्षरः)
ब्रह्मेन्द्र विष्ण्वग्निसोमभावा अमृताः-क्रिया (अक्षरः क्षरः) —क्षरषोडशी-'उपेश्वरषोडशी'
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः-ज्ञानम् (अव्ययः क्षरः)

❀ ❀ ❀

६६-ब्रह्मा-इन्द्र-एवं उपेन्द्र के षोडशीभाव—

क्षर अक्षर के उप (समीप) प्रतिष्ठित है, अतएव तद्रूप षोडशी को अवश्य ही 'उपेश्वरषोडशी' कहा जा सकता है। अक्षर अव्यय की प्रतिमा है, अतएव इसे अवश्य ही 'प्रतिमाषोडशी' कहा जा सकता है। अव्यय स्वतन्त्रेश्वर बनता हुआ स्वतन्त्र षोडशी है। अतः इसे केवल 'षोडशी' कहना ही अन्वर्थ बनता है। अव्ययषोडशी सकल महेश्वरप्रजापति है, यही सहस्रोपेश्वर के सम्बन्ध से सहस्रबल्शेश्वर अश्वत्थब्रह्म है। अक्षरषोडशी सगुण सत्यप्रजापति है, यही सहस्रवल्शाध्यक्ष अव्यक्त स्वयम्भू है। क्षरषोडशी सविकार यज्ञप्रजापति है, यही एकवल्शेश्वराध्यक्ष पुण्डीरस्वयम्भू है। षोडशी ब्रह्मात्मक षोडशी है, प्रतिमाषोडशी इन्द्रात्मक षोडशी है, एवं उपेश्वरषोडशी उपेन्द्रात्मक षोडशी है। तात्पर्य्य यही है कि, अन्तर्य्यामीरूप अक्षरात्मा ब्रह्मा, (स्थिति), इन्द्र (गति), विष्णु (आगति) रूप है। ब्रह्मा चित्पति है, इन्द्र क्रियापति * है, विष्णु अर्थ-

* 'या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्'' (यास्कनिरुक्त)।

पति है। चित्पति ब्रह्मा ज्ञानमय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्वज्ञ है। इन्द्र क्रियामय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्वशक्तिमान् है। विष्णु अर्थमय है, इसी दृष्टि से अक्षरात्मा सर्ववित् × है। ब्रह्मात्मक सर्वज्ञ अक्षर से प्रतिष्ठाब्रह्मात्मक क्षर मर्त्यब्रह्मा का विकास हुआ है। इन्द्रात्मक सर्वशक्तिमान् अक्षर से ज्योतिर्लक्षण नामरूपकर्म्मात्मक मर्त्य इन्द्राविष्णु का विकास हुआ है। विष्णवात्मक सर्ववित् अक्षर से यज्ञलक्षण मर्त्य अग्नीषोम का विकास हुआ है। प्रतिष्ठाब्रह्म से अभिन्न ज्ञानमय ब्रह्मा ज्ञानप्रधान अव्यय से समतुलित है, अतएव अव्ययात्मक षोडशी को 'ब्रह्मात्मकषोडशी' कहा जा सकता है, यही 'षोडशी' है। ज्योतिर्लक्षण नामरूप से अभिन्न क्रियामय इन्द्र क्रियाप्रधान अक्षर से समतुलित है, अतएव अक्षरात्मक षोडशी को 'इन्द्रात्मक षोडशी' कहा जा सकता है, यही 'प्रतिमाषोडशी' है। अन्नलक्षण यज्ञ से अभिन्न अर्थमय उपेन्द्र (विष्णु+) अर्थप्रधान क्षर से समतुलित है, अतएव क्षरात्मक षोडशी को उपेन्द्रात्मक षोडशी कहा जा सकता है, यही 'उपेश्वरषोडशी' है। निम्न लिखित वचन इसी त्रिविध षोडशी-विवर्त्त का समर्थन कर रहे हैं—

अव्ययः–१–"षोडशकलं वै ब्रह्म" (जै० उ० ३।३८।८।)।–ब्रह्मा षोडशी (षोडशी)
अक्षरः—२–"इन्द्रो ह वै षोडशी" (शत० ४।५।३।१।)।–इन्द्रः षोडशी (प्रतिमाषोडशी)
क्षरः——३–"अतिरिक्तो वै षोडशी" (तां० ब्रा० ६।१।५।)।–उपेन्द्रः षोडशी (उपेश्वरषोडशी)

❀ ❀ ❀

६७–अमृत-ब्रह्म–शुक्र–त्रयीस्वरूपदिग्दर्शन—

महामायावच्छिन्न अव्ययप्रधान महेश्वरप्रजापतिलक्षण अश्वत्थमूर्त्ति षोडशीपुरुष के ही 'अमृतं–ब्रह्म–शुक्रम्' भेद से तीन विवर्त्त मानें गए हैं। अमृतभाव का अव्ययषोडशी से, ब्रह्मभाव का अक्षरषोडशी से, एवं शुक्रभाव का क्षरषोडशी से सम्बन्ध है। माया–कला–परिग्रहोपपन्न अव्ययषोडशी 'अमृतम्' है, यही आत्मयोनि है। गुण–विकार-परिग्रहोपपन्न अक्षरषोडशी 'ब्रह्म' है, यही प्रकृतियोनि है। अञ्जन–आवरण–परिग्रहोपपन्न क्षरषोडशी 'शुक्रम्' है, यही विकृतियोनि है। 'तदेव शुक्रं-तद्ब्रह्म-तदेवामृतमुच्यते' के अनुसार वही अपने अव्यय–अक्षर–क्षर-रूप से षट्परिग्रहोपपन्न बनता हुआ त्रिसंस्थ, षट्संस्थ, एवं चतुःसंस्थ बन रहा है। स्मरण कीजिए–निष्कलकारणस्वरूपमीमांसा में हमनें सच्चिदानन्दब्रह्म के ईश्वर-जीव-जगत् भेद से तीन विवर्त्त बतलाए थे। उन तीनों विवर्त्तों का इन्हीं अमृत–ब्रह्म–शुक्र–संस्थारूप त्रिविध षोडशीरूपों से सम्बन्ध है। सच्चिदानन्देश्वर अव्ययषोडशी है। सच्चिदानन्दजीव अक्षरषोडशी ÷ है। सच्चिदानन्द-जगत्

× यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म–नामरूप–मन्नं च जायते ॥
—मुण्डकोपनिषत् १।१।९।

\+ उपेन्द्रो विष्णुरेवेन्द्रावरजः–इन्द्रस्य कनिष्ठभ्राता–'उपेन्द्र-इन्द्रावरजश्चक्रपाणिश्चतुर्भुजः' इत्यमरः।

÷ इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत् ।
(पराप्रकृतिरक्षरः, स एव जीवसृष्टेराधारभूतः)

क्षरषोडशी है =। तीनों सोपाधिक–उद्बुद्ध सच्चिदानन्द हैं, चौथा परात्पर निरुपाधिक उन्मुग्ध सच्चिदानन्द है, जिसका उपाधिसम्बन्ध से तीन प्रकार का विकास हुआ है। रसैकघन परात्पर 'आनन्दः' है। इसका प्रथम विकास आनन्दः–विज्ञानं–मनः है, यही 'अमृतम्' है। द्वितीय विकास–'मनःप्राणः–वाक्–है, यही 'ब्रह्म' है। तृतीय विकास वाक्–आपः–अग्निः है, यही शुक्रम् है, जैसा कि परिलेखों से स्पष्ट है।

———————— *

❀ आनन्दः–परात्परः (उन्मुग्धसच्चिदानन्दो निष्कलः)–अमायी

———————— *

परात्परो–मायी

आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः——अव्ययोऽव्ययः——आनन्दः
ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा अमृताः——अक्षरोऽव्ययः——विज्ञानम
ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा मर्त्याः——क्षरोऽक्षरः——मनः–❀

–तदेवामृतम (सनातन-षोडशी–ईश्वरः) (अव्ययात्मकः–सच्चिदानन्दः)

———————— *

परात्परो–मायी

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा अमृताः——अक्षरोऽक्षरः——मनः ❀
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः——अव्ययोऽक्षरः——प्राणः
ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा मर्त्याः——क्षरोऽक्षरः——वाक् ❀

–तदेव ब्रह्म (प्रतिमाषोडशी–जीवः) (अक्षरात्मकः–सच्चिदानन्दः)

———————— *

परात्परो–मायी

ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा मर्त्याः—क्षरः क्षरः–वाक् ❀
ब्रह्मेन्द्रविष्णवग्निसोमभावा अमृताः–अक्षरः क्षरः–आपः
आनन्दविज्ञानमनःप्राणवाग्भावाः·अव्ययः क्षरः–अग्निः

–तदेव शुक्रम् (उपेश्वरषोडशी–जगत् (क्षरात्मकं सच्चिदानम्)

———————— *

६८–पञ्च पुण्डीरप्रजापतिस्वरूपदिग्दर्शन—

उक्त सन्दर्भ के विश्लेषण के आधार पर पाठकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ेगा कि, अक्षरप्रधान सत्यप्रजापति तो प्रतिमाषोडशी है, एवं आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति उपेश्वरषोडशी है। 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' के अनुसार षोडशी–प्रतिमाषोडशी–गर्भित–उपेश्वरषोडशी में ही लोकसंस्था अन्तर्भूत है। सत्यप्रजापति

————————

= भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अपरेयम्·············। (अपराप्रकृतिः क्षरः, तदिदं जगत्-क्षरः सर्वाणि भूतानि।

की ही यज्ञ, विराट् , विश्व, ये तीन अवस्थाएँ हैं। वही आत्मक्षर के द्वारा यज्ञ बना है, यज्ञ के द्वारा विराट् बना है, विराट् के द्वारा विश्व(प्रजा)रूप में परिणत हुआ है। सत्यप्रजापति प्रतिमाषोडशी है, यज्ञ, विराट , विश्व, तीनों इसी के विवर्त्त हैं। अतएव तीनों का प्रतिमाषोडशी के स्वरूप में हीं अन्तर्भाव माना जा सकता है। तीनों में से विश्वरूपा प्रजा को छोड़ दीजिए, केवल सत्य-यज्ञ-विराट् , इन तीन संस्थाओं पर दृष्टि डालिए। सत्यप्रजापति-लक्षण अक्षरात्मा मायीमहेश्वर के स्वरूप से समतुलित है, यह कहा जा चुका है। इसके गर्भ में पुण्डीर-स्वयम्भूरूप, यज्ञप्रजापतिलक्षण क्षरात्मा प्रतिष्ठित है। सहस्रपुण्डीरस्वयम्भूगर्भित अव्यक्तस्वयम्भूलक्षण परमा-काशात्मक सत्यमूर्त्ति अक्षरात्मा ही प्रथम प्रतिमाषोडशी है, जिसे यज्ञ-विराट्-षोडशी-भावों के पार्थक्य सूचित करने के लिए 'प्रतिमाषोडशी' कहा जायगा। निम्न लिखित परिलेख से इसी का स्पष्टीकरण हो रहा है।

अव्यक्त स्वयम्भूरूप प्रतिमाषोडशी के गर्भमें एक सहस्र पुण्डीरस्वयम्भू प्रतिष्ठित हैं, ये ही उपेश्वरषोडशी है। प्रत्येक उपेश्वरषोडशी के गर्भ में चार चार प्रतिमोपेश्वर हैं। यही पञ्चपुण्डीरा प्राजापत्यवल्शा है। पाँचों पुण्डीरों में समष्टिरूप से महिमा के द्वारा व्याप्त एकवल्शेश्वर पुण्डीरस्वयम्भू ही आत्मक्षरलक्षण यज्ञप्रजापति है। अवारपारीण यह यज्ञप्रजापति उस सत्यप्रजापति की प्रतिमा है। एवं इसके गर्भ में प्रतिष्ठित चार पुण्डीर इस यज्ञप्रजापति की प्रतिमा हैं। पुण्डीरस्वयम्भू-गर्भित चार प्रतिमाप्रजापतियों की अपेक्षा पुण्डीरस्वयम्भू परम-प्रजापति है। इसप्रकार उपेश्वरषोडशी के 'परमप्रजापति'-'प्रतिमाप्रजापति', ये दो विवर्त्त हो जाते हैं। **'आत्मपदपुनःपदत्त्वं प्रतिमात्त्वम्'** ही प्रतिमा का लक्षण है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड में वस्तुकेन्द्र, वस्तुपिण्ड, वस्तुमहिमा, ये तीन तीन संस्थाविभाग मानें गए हैं। वस्तुकेन्द्रावच्छिन्न तत्त्व आत्मा है। आत्मा का प्रथम प्रपत्तिस्थानरूप वस्तुपिण्ड 'पदम्' है। द्वितीय प्रपत्तिस्थानरूप वस्तुमहिमा 'पुनःपदम्' है। 'पुनःपदम्' (महिमामण्डल) अशीतिरूप पशु है, पदं (वस्तुपिण्ड) अर्करूप पाश है, हृदयावच्छिन्न आत्मा उक्थरूप पशुपति है। पशुपति-पाश-पशु,-उक्थ-अर्क-अशीति,-वस्तुकेन्द्र-वस्तुपिण्ड-वस्तुमहिमा,-आत्मा-प्राणाः-पाशवः,-आत्मा-पदं-पुनःपदम् , सभी त्रिक तत्त्वतः अभिन्नार्थक हैं। पुण्डीरस्वयम्भू में तीनों संस्थाविभाग विद्यमान हैं। ये ही संस्थाविभाग तद्गर्भीभूत शेष चारों पुण्डीरों में हैं, अतएव इन्हें पुण्डीरपरमप्रजापति की प्रतिमा कहना अन्वर्थ बनता है।

आत्मक्षर की ब्रह्मादि पाँचों मर्त्य कलाओं से प्राणादि पञ्च विकार (गुणभूत) उत्पन्न हुए। पाँचों के पञ्चीकरण से पञ्चीकृत पाँच प्राणादि पञ्चजन (अणुभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पञ्चजनों के पञ्चीकरण से पाँच पुरञ्जन (रेणुभूत) उत्पन्न हुए। इन पाँच पुरञ्जनों से क्रमशः वेदपुरञ्जन से पुण्डीरस्वयम्भू, लोक-पुरञ्जन से पुण्डीर परमेष्ठी, देवपुरञ्जन से पुण्डीर सूर्य्य, भूतपुरञ्जन से पुण्डीरभूपिण्ड, पशुपुरञ्जन से पुण्डीर चन्द्रमा उत्पन्न हुआ। मर्त्य ब्रह्मादिरूप आत्मक्षर से विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन के द्वारा उत्पन्न इन पाँचों पुण्डीरों में 'तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशत्' न्याय से परात्पर-अव्यय-अक्षरगर्भित आत्मक्षररूप उपेश्वर-षोडशी पाँचों में क्रमशः अपनी ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पाँच मर्त्यकलाओं से प्रविष्ट हो गया। अतएव ये पाँचों पुण्डीर क्रमशः ब्रह्मात्मक-विष्ण्वात्मक-इन्द्रात्मक-अग्न्यात्मक-सोमात्मक कहलाए। पाँचों में ब्रह्मात्मक पुण्डीरस्वयम्भू 'ब्रह्मा' कहलाया। शेष चारों के विष्णु (परमेष्ठी), इन्द्र (सूर्य्य), अग्नि (भूपिण्ड), सोम(चन्द्रमा), चारों क्षर आत्मा-पदं-पुनःपदं-भावों से पुण्डीरस्वयम्भू से समतुलित रहते हुए प्रतिमा नाम से व्यवहृत हुए, जैसा कि निम्न लिखित श्रुति से प्रमाणित है—

"स ऐक्षत प्रजापतिः (पुण्डीरस्वयम्भूः)—'इमं वाऽआत्मनः प्रतिमामसृक्षि। आत्मनो ह्येतं प्रतिमामसृजत। ता वा एता प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त—अग्निः (पृथिवी), इन्द्रः (सूर्य्यः), सोमः (चन्द्रमाः), परमेष्ठी (विष्णुः) प्राजापत्यः'"।
(शत०११।१।६।१३,१४,)।

६९—त्रि—धामात्मक विश्वकर्म्मा—प्रजापति का महिमाविवर्त—

पुण्डीरस्वयम्भू ही संहिता में 'विश्वकर्म्माप्रजापति' कहलाया, एवं चारों पुण्डीरप्रजापति विश्वकर्म्मा के सखा कहलाए। यही विश्वकर्म्मा पुराण में *'सप्तवितस्तिकायात्मक' ईश्वर नाम से उपवर्णित हुआ। स्वयम्भू 'सत्यलोक' है, यही प्रथमा वितस्ति है। स्व० पर०, दोनों के मध्य का लोक 'तपोलोक' है, यही द्वितीया वितस्ति है। परमेष्ठी 'जनल्लोक' है, यही तृतीया वितस्ति है। परमेष्ठी सूर्य्य, दोनों का मध्यलोक 'महर्लोक' है, यही चतुर्थी वितस्ति है। सूर्य्य 'स्वर्लोक' है, यही पञ्चमी वितस्ति है। सूर्य्य—पृथिवी, दोनों के मध्य का चन्द्रलोक 'भुवर्लोक' है, यही षष्ठी वितस्ति है। पृथिवी भूलोक है, यही सप्तमी वितस्ति है, यही सप्तवितस्तिकायात्मक, एकब्रह्मेश्वर नामक, पञ्चोपेश्वरात्मक, उपेश्वरषोडशी है। पृथिवी, चन्द्रमा (अन्तरिक्ष), सूर्य्य, तीनों की समष्टि भूः—भुवः—स्वः—रूपा प्रथमा 'रोदसीत्रिलोकी' है। सूर्य्य—अन्तरिक्ष—परमेष्ठी, तीनों की समष्टि भूः—भुवः—स्वः—रूपा द्वितीया 'क्रन्दसीत्रिलोकी' है। परमेष्ठी—अन्तरिक्ष—स्वयम्भू, तीनों की समष्टि भूः—भुवः—स्वः—रूपा तृतीया 'संयतीत्रिलोकी' है। यही त्रैलोक्यत्रिलोकी है। 'तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे' से इसी त्रैलोक्यत्रिलोकी का ग्रहण हुआ है। रोदसी भूः नाम की महाव्याहृति है, यही विश्वकर्म्मा पुण्डीरस्वयम्भू का 'अवमधाम' है। क्रन्दसी भुवः नाम की महाव्याहृति है, यही विश्वकर्म्मा का 'मध्यमधाम' है। संयती 'स्वः' नाम की महाव्याहृति है। यही विश्वकर्म्मा का 'परमधाम' है। त्रिधामात्मक इसी विश्वकर्म्मा का, जो अपने परमेष्ठ्यादि चारों सखाओं (प्रतिमाप्रजापतियों) को शिक्षा दे रहा है, निम्न लिखित शब्दों में विश्लेषण हुआ है—

या ते धामानि परमाणि, यावमा, या मध्यमा विश्वकर्म्मन्नुतेमा॥
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः॥१॥
किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत् स्वित्कथासीत्॥
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्म्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः॥२॥
विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्॥
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥३॥
—यजुः सं० १७।२१,१८,१९,।

*—क्वाहं तमोमहदहंखचराग्निवार्भूः—संवेष्टिताण्डघट—'सप्तवितस्तिकायः'।
क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्य्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम्॥
——श्रीमद्भागवत-१०।१४।११।

(संयती) स्वः	स्वयम्भूः (स्वः)		—सत्यलोकः (७)
(परमं धाम)	अन्तरिक्षम् (भुवः)		—तपोलोकः (६)
	परमेष्ठी (भूः)	परमेष्ठी (स्वः)	—जनल्लोकः (५)
(क्रन्दसी) भुवः		अन्तरिक्षम् (भुवः)	—महर्लोकः (४)
(मध्यमं धाम)		सूर्य्यः (भूः)	सूर्य्यः (स्वः) —स्वर्लोकः (३)
(रोदसी) भूः—			अन्तरिक्षम् (भुवः) —भुवर्लोकः (२)
(अवमं धाम)			पृथिवी (भूः) —भूलोकः (१)

सप्तवितस्तिकायः—उपेश्वरो यज्ञप्रजापतिर्विश्वकर्म्मा पुण्डीरस्वयम्भूरूपः

बतलाया गया है कि—वाक्—आपः—अग्निरूप 'तदेव शुक्रम्' का इस सप्तवितस्तिकायात्मक, एकबल्शेश्वर यज्ञप्रजापतिलक्षण, आत्मक्षररूप, उपेश्वरषोडशी से ही सम्बन्ध है। अमृत—मर्त्य भेद से शुक्रत्रयी के ६ विवर्त्त हो जाते हैं। मर्त्या वाक्—शुक्रगर्भित अमृतावाक्—शुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के प्रथम पर्व पुण्डीर-स्वयम्भू से है। मर्त्या आपःशुक्रगर्भित अमृता आपःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के द्वितीय पर्व पुण्डीर-परमेष्ठी से है। मर्त्य अग्निःशुक्रगर्भित अमृत अग्निःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के तृतीय पर्व पुण्डीर-अमृत सूर्य्य से है। अमृत अग्निः—वाक्—शुक्रगर्भित मर्त्य अग्निःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के तृतीय पर्व पुण्डीर मर्त्य सूर्य्य से है। अमृता आपःशुक्रगर्भित मर्त्या आपःशुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के चतुर्थ पर्व पुण्डीरचन्द्रमा से है। एवं अमृता—वाक्—शुक्रगर्भित मर्त्यावाक्शुक्र का सम्बन्ध उपेश्वर के पञ्चम पर्व पुण्डीरभूपिण्ड से सम्बन्ध है। इसप्रकार ६ ओं अमृतमर्त्यशुक्रों का उपेश्वर के पाँचों पुण्डीरों में क्रमिक उपभोग हो रहा है।

७०—पञ्चानुगत त्रिधा विभक्त 'मनोता' तत्त्व—

पुण्डीरस्वयम्भू का केन्द्रस्थ मन **वेद, सूत्र, नियति**, इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही स्वयम्भू के मनोता हैं। पुण्डीर परमेष्ठी का केन्द्रस्थ मन **इट्—उक्—भोगाः**, इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही परमेष्ठी के मनोता हैं। पुण्डीर सूर्य्य का केन्द्रस्थ मन **ज्योतिः, गौः, आयुः**, इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही सूर्य्य के मनोता हैं। पुण्डीर चन्द्रमा का केन्द्रस्थ मन **रेतः,—श्रद्धा,—यशः**, इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही चन्द्रमा के मनोता हैं। पुण्डीर भूपिण्ड का केन्द्रस्थ मन **वाक्—गौः—द्यौः**, इन तीन तत्त्वों में ओत है, ये ही भूपिण्ड के मनोता हैं। इसप्रकार पाँच स्थानों में तीन तीन मनोताओं का उपभोग हो रहा हैं। इनका सम्यक् परिज्ञान ही वेदपरिज्ञान है, जैसाकि निम्न लिखित अनुगमवचन से प्रमाणित है—

यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति।
यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलिमस्मै हरन्ति॥

—छान्दो० उप० २।२१।३।

७१–कलाविभागस्वरूपदिग्दर्शन—

बतलाया गया है कि, आत्मक्षर से विश्वसृट्, पञ्चीकृत पञ्चजन, पञ्चीकृत पुरञ्जनों के द्वारा ही पुण्डीररूप इन स्वयम्भू आदि पाँच पुरों का आविर्भाव हुआ है, क्योंकि इनके उपादान मर्त्य ब्रह्मादि पञ्चकलोपेत आत्मक्षर, तदनुगत अपञ्चीकृत प्राणादि पञ्चकल विश्वसृट् (विकारक्षर), पञ्चीकृत पुरञ्जनगर्भित पञ्चीकृत वेदादि पञ्चकल पुरञ्जन हैं, अतएव इन में प्रत्येक में पाँचों भावों का समन्वय हो रहा है । पहिले आत्मक्षर को ही लीजिए ।

आत्मक्षरकलाः—

(१) पाँचों के ब्रह्मा क्रमशः–विश्वसृट्, पितामह, हिरण्यगर्भ, निधन, पद्मभूः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(२) पाँचों के विष्णु क्रमशः-स्वयम्भूः, गोसवः, नारायणः, वामनः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(३) पाँचों के इन्द्र क्रमशः–वाचस्पतिः, अर्जुनः, मघवा, वृत्रहा, वासवः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(४) पाँचों के अग्नि क्रमशः-सत्याग्निः, ऋताग्निः देवाग्निः, पश्वग्निः, अन्नादाग्निः,नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(५) पाँचों के सोम क्रमशः–प्राणः, भृगुः, ग्रहः, अन्नम्, ओषधीः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।

विकारक्षरकलाः—

(१) पाँचों के प्राण क्रमशः–ऋषयः, पितरः, देवाः, गन्धर्वाः, पशवः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(२) पाँचों के आपः क्रमशः–प्राणः, अम्भः, मरीचिः, आपः, मरः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(३) पाँचों की वाक् क्रमशः–सत्या, आम्भृणी, बृहती, सुब्रह्मण्या, अनुष्टुप्, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(४) पाँचों के अन्न क्रमशः–अर्कः, वाजः, ग्रहः, राजा, हविः, नामों से प्रसिद्ध हैं ।
(५) पाँचों के अन्नाद क्रमशः–विश्वभुक्, पलितवामः, सम्वत्सरः, स्वधाभुक्, पशुभुक्, नामों से प्रसिद्ध हैं ।

(१)–पाँचों के वेद क्रमशः–ब्रह्मनिःश्वसितः, ब्रह्मस्वेदः, गायत्रीमात्रिकः, अथर्वः, यज्ञमात्रिकः नामों से–
(२)–पाँचों के लोक क्रमशः–अशोकमहिमलोकः, कामप्रलोकः, देवलोकः, पितृलोकः, मनुष्यलोकः,– नामों से–
(३)–पाँचों के देव क्रमशः–ब्रह्मा, विष्णुः, इन्द्रः, सोमः, अग्निः, नामों से–
(४)–पाँचों के पशु क्रमशः–पुरुषः, अश्वः, गौः, अविः, अजः, नामों से–
(५)–पाँचों के भूत क्रमशः–आकाशः, वायुः, तेजः, जलम्, पृथिवी, नामों से–प्रसिद्ध हैं ।



पञ्चकल विश्वसृट्, पञ्चकल पञ्चजन, पञ्चकल पुरञ्जन रूप स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड, पाँचों पुण्डीरों का आधार पञ्चकल आत्मक्षर है, तदाधार पञ्चकल अक्षर है, तदाधार पञ्चकल अव्यय है, सर्वाधार निष्कल परात्पर है । परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षररूप षोडशी पाँचों में प्रत्येक में आधार है, विश्वसृट्–पञ्चजन–पुरञ्जन–गर्भित पञ्च पुर पृथक्–पृथक् हैं । दूसरे शब्दों में षोडशी सर्वत्र अभिन्न है, सामान्य

है, अविशेष है। पुर भिन्न हैं, विशेष हैं। षोडशीदृष्ट्या सर्वमिदमभिन्नम्। पुरदृष्ट्या सर्वमिदं विभिन्नम्। यही पञ्चपुरात्मक, आत्मक्षरमूलक, उपेश्वरषोडशी के, (जिसके अवान्तर पाँच उपेश्वरपर्व हैं, जिसमें प्रथम पर्व परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं) तात्त्विक स्वरूप का संक्षिप्त विश्लेषण है। आत्मक्षर-प्रधान उपेश्वरषोडशी कर्म्मकाण्ड का आधार है। अक्षरप्रधान प्रतिमाषोडशी भक्तिकाण्ड का आलम्बन है। अव्ययप्रधान सतातनषोडशी ज्ञानकाण्ड की आश्रयभूमि है। एवं विशुद्ध अव्यय (परात्परपुरुष) बुद्धियोग का आधारस्तम्भ है, जिसके विश्लेषण का सौभाग्य एकमात्र गीताशास्त्र को ही प्राप्त है, जिसके संक्षिप्त स्वरूप का उपनिषदों में दिग्दर्शन हुआ है।

७२–तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्—

अव्यक्त स्वयम्भूरूप आभूप्रजापति (अक्षरप्रधान, सत्यलक्षण, प्रतिमाषोडशी) के गर्भ में उक्त पञ्चोपेश्वर षोडशीरूप पुण्डीरस्वयम्भूलक्षण, आत्मक्षरप्रधान, यज्ञमूर्त्ति एकसहस्र उपेश्वर प्रतिष्ठित हैं, जैसा कि पूर्वपरिलेख द्वारा स्पष्ट कर दिया गया है। प्रकृत में केवल पञ्चोपेश्वरात्मिका एक उपेश्वरसंस्था का परिलेख द्वारा दिग्दर्शन करा दिया जाता है, जो उपेश्वरषोडशी विज्ञेय माना गया है। परात्पररूप महेश्वर अविज्ञेय था, पुरुषरूप सनातन षोडशी दुर्विज्ञेय था, अक्षररूप प्रतिमाषोडशी ज्ञेय था, एवं आत्मक्षररूप यह उपेश्वरषोडशी सुज्ञेय है। अभी 'सुविज्ञेय' नामक एक प्राजापात्य विवर्त्त और शेष रहा है। परिलेखान्तर उसके स्वरूप का भी प्रसङ्गोपात्त दिग्दर्शन कराया जायगा।

बतलाया गया है कि, अक्षररूप सत्यप्रजापतिलक्षण प्रतिमाषोडशी के ही यज्ञ–विराट्–विश्व, ये तीन विवर्त्त हैं। इनमें से यज्ञप्रजापतिरूप उपेश्वर नामक षोडशी का स्वरूप बतला दिया गया। अत्र क्रमप्राप्त विराट्प्रजापति की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। यज्ञप्रजापतिरूप उपेश्वर-षोडशी के गर्भ में स्व० पर० सू० चन्द्र० पृ० ये पाँच पुण्डीर बतलाए गए हैं। इन पाँचों पुण्डीरों की समष्टि मायी महेश्वरप्रजापतिलक्षण अश्वत्थवृक्ष की पञ्चपुण्डीरा एक प्राजापत्यवल्शा (शाखा–टहनी) है। इस शाखा का अन्तिम छोर भूपिण्डात्मक पुण्डीर है। यह भूपिण्ड अग्निप्रधान है। यह अग्नि चित्य–चितेनिधेय (मर्त्य–अमृत) भेद से दो भागों में विभक्त है। भूपिण्ड चित्याग्निमय है। भूमहिमा चितेनिधेयाग्निमय है। भूकेन्द्र से विनिर्गत भूपिण्ड से बड़ी दूरतक व्याप्त चितेनिधेयाग्निमण्डल (पुनःपद) ही महिमा–पृथिवी है। मनोताओं का दिग्दर्शन कराते हुए हमनें भूपिण्ड के वाक्–गौः–द्यौः–रूप तीन मनोता बतलाए हैं। महिमामण्डलात्मिका पृथिवी के केन्द्र से आरम्भ कर प्रधि (परिधि) पर्य्यन्त ४८ अहर्गण व्याप्त हैं। इसमें २१ वें अहर्गण पर्य्यन्त तो वाक्–मनोता व्याप्त है। केन्द्र से आरम्भ कर ३३ पर्य्यन्त 'गौः' नामक मनोता व्याप्त है। केन्द्र से आरम्भ कर ४८ पर्य्यन्त द्यौः नामक मनोता व्याप्त है। **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्'** (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाङ्नामक प्राणाग्नि ही केन्द्र से परिधि पर्य्यन्त (४८ पर्य्यन्त) व्याप्त रहता हुआ वाक्–गौः–द्यौः रूप में परिणित हो रहा है।

७३–मही, सागराम्बरा, और अदिति—

भूपिण्ड की महिमा में इससे ऊपर के चन्द्रमा–सूर्य्य–परमेष्ठी–स्वयम्भू, चारों पुण्डीरतत्त्वों का प्रवर्ग्यरूप से समन्वय हो रहा है। ४८ पर्य्यन्त स्वायम्भुवतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'द्यौः' है। ३३ पर्य्यन्त

पारमेष्ठ्यतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही गौः है। २१ पर्य्यन्त सौरतत्त्व प्रतिष्ठित है, यही 'वाक्' है। द्यौरूप से इसी महिमापृथिवी में प्रवर्ग्यरूप से स्वायम्भुवी संयतीत्रिलोकी का क्रमशः २४-४४-४८ स्तोम भेद से भोग हो रहा है। यही द्यौर्लक्षणा, स्वायुम्भवतत्त्वात्मिका, महापृथिवी **'मही'** कहलाई है। गौरूप से इसी महिमा पृथिवी में प्रवर्ग्यरूप से पारमेष्ठिनी क्रन्दसीत्रिलोकी का क्रमशः ११-२२-३३ स्तोम भेद से भोग हो रहा है। यही गौर्लक्षणा, पारमेष्ठ्यतत्त्वात्मिका, महापृथिवी **'सागराम्बरा'** कहलाई है। वाग्रूप से इसी महिमापृथिवी में प्रवर्ग्य रूप से सौरी रोदसीत्रिलोकी का क्रमशः ६-१५-२१ स्तोमभेद से भोग हो रहा है। यही वाग्लक्षणा, सौरतत्त्वात्मिका, महापृथिवी **'अदिति'** कहलाई है। त्रैलोक्यात्मिका अदिति-पृथिवी भूः है, त्रैलोक्यात्मिका सागराम्बरा-पृथिवी भुवः है, त्रैलोक्यात्मिका मही-पृथिवी स्वः है। तीनों व्याहृतियाँ सप्तवितस्तिकायात्मक, पञ्चपुण्डीरात्मक उपेश्वरस्वरूपवत् इसी महिमापृथिवी में त्रिवृद्रूप से प्रतिष्ठित हैं। अदितिरूप भूः नाम की महाव्याहृति का त्रिवृत् (६) स्तोम 'भूः' है, पञ्चदश (१५) स्तोम भुवः है, एकविंश (२१) स्तोम स्वः है। यही अदितिपृथिवीरूपा भूर्लक्षणा प्रवर्ग्यरोदसीरूपा पहिली आग्नेयी त्रिलोकी है, वाक्-मनोतामयी त्रिलोकी है। सागराम्बरारूपा भुवः नाम की महाव्याहृति का एकादश (११) स्तोम भूः, है, द्वाविंशस्तोम (२२) भुवः है, त्रयस्त्रिंश (३३) स्तोम स्वः है। यही सागराम्बरापृथिवीरूपा भुवर्लक्षणा प्रवर्ग्यक्रन्द्रसीरूपा दूसरी ऐन्द्रीत्रिलोकी है, गौर्मनोतामयी त्रिलोकी है। महीरूपा स्वः नाम की महाव्याहृति का चतुर्विंश (२४) स्तोम भूः है, चतुश्चत्त्वारिंश(४४) स्तोम भुवः है, अष्टाचत्त्वारिंशत्(४८) स्तोम स्वः है। यही महीपृथिवीरूपा स्वर्लक्षणा प्रवर्ग्यसंयतीरूपा तीसरी ब्राह्मी त्रिलोकी है, द्यौर्मनोतामयी त्रिलोकी है। इसप्रकार भूकेन्द्र से आरम्भ कर ४८ वें अहर्गण पर्य्यन्त व्याप्त महापृथिवी में त्रैलोक्यरूपा तीन पृथिवीविवर्तों का भोग सिद्ध हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

७४-आत्म-देव-भूत-भेदभिन्ना सत्यत्रयी—

'सत्यस्यसत्यं' लक्षण अव्ययप्रधान सनातनषोडशी के आधार पर सत्यलक्षण अक्षरप्रधान प्रतिमाषोडशी का आविर्भाव माना गया है। एवं इस सत्यप्रजापति से यज्ञलक्षण आत्मक्षरप्रधान उपेश्वरषोडशी, तथा विराट् का आविर्भाव माना गया है। सत्यस्यसत्यंगर्भित (अव्ययात्मगर्भित) सत्यं (अक्षरात्मा-सत्यप्रजापति) **'सत्य-यज्ञ-विराट्'** इन तीन भावों में परिणत हुआ है, अतएव तीनों को 'सत्य' शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। ये तीनों सत्य उपनिषत्-परिभाषा में क्रमशः **'आत्मसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य'** इन नामों से प्रसिद्ध हुए हैं। ये ही प्रकृत प्रकरण के प्रतिमाषोडशी, उपेश्वरषोडशी, एवं विराट्प्रजापति हैं। आत्मसत्य (अक्षर) प्रकृति है। ब्रह्मसत्य (आत्मक्षर) आत्मसत्य की प्रकृति, तथा देवसत्य की विकृति होने से प्रकृतिविकृति है। देवसत्य ब्रह्मसत्य की विकृति होने से 'विकृति' है। विराट्गर्भ में प्रतिष्ठित भूतात्मक सावरण विश्व देवसत्यरूप विकृति से उत्पन्न होने के कारण वैकारिक है। इस दृष्टि से अक्षररूप आत्मसत्य के आत्मसत्य, ब्रह्मसत्य, देवसत्य, भूतसत्य, ये चार विवर्त्त हो जाते हैं, जोकि क्रमशः सत्य, यज्ञ, विराट्, विश्व, नामों से व्यवहृत हुए हैं। सत्य **'हृदयसत्यम्'** है, यज्ञ **'त्रयीसत्यम्'** है, विराट् **'देवाः सत्यम्'** है, विश्व **'नामरूपे सत्यम्'** है। सगुण सत्य असंस्कार्य्य है। इसी आधार पर भारतीय श्रौत-स्मार्त्त संस्कार **ब्राह्मसंस्कार, दैवसंस्कार, भूतसंस्कार**-भेद से तीन श्रेणियों में विभक्त हुए हैं, जिनका विशद वैज्ञानिक विश्लेषण 'कर्म्मयोगपरीक्षा' 'ग' विभाग में किया जा चुका है।

* सत्यस्यसत्यम्–अव्ययप्रधानः सनातनषोडशी पुरुषसत्यः	–आत्मसत्यः
१–तदभिन्नः सत्यप्रजापतिः–प्रतिमाषोडशी–प्रकृतिसत्यः	(हृदयम्)

२–तदभिन्नो यज्ञप्रजापतिः–उपेश्वरषोडशी–प्रकृतिविकृतिसत्यः]–ब्रह्मसत्यः (त्रयी)

३–तदभिन्नो विराट्प्रजापतिः–विराट्षोडशी–विकारसत्यः]–देवसत्यः (देवाः)

४–तच्छरीरं विश्वप्रजापतिः–विश्वम्——वैकारिकसत्यः]–भूतसत्यः (भूतानि)

* * * *

*–सत्यस्यसत्यम्—

१–"सत्यस्य सत्यमनु यत्र युज्यये तत्र देवाः सर्व एकी भवन्ति" ।

१–प्रकृतिसत्योऽक्षरः–'तदेतत् त्र्यक्षरं हृदयमिति । तद्वै तदेतदेव तदास सत्यमेव"

२–प्र० वि० सत्यः क्षरः–"सैषा त्रयीविद्या यज्ञः । तद्यत्तत् सत्यं, त्रयी सा विद्या" ।

३–विकारसत्यो विकारक्षरः–विराजो वा एतद्रूपं यदक्षरम् (सत्यम्)

—तां० म० ब्रा० ८।६।१४।

४–वैकारिकसत्यः–'नामरूपे सत्यम्" (शत० १४।४।४।३।)

* * *

७५–विराट्-रूप देवसत्य का स्वरूपदिग्दर्शन—

सनातन अव्ययसत्य भी आनन्द–विज्ञान–मनः–प्राण–वाग्रूप से पाँच सत्यस्य सत्यं है, अक्षररूप प्रकृतिसत्य भी ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोमरूप से पञ्चसत्य है। पञ्चात्मक सत्यस्यसत्यं गर्भित पञ्चात्मक–आत्मसत्य के आधार पर प्रतिष्ठित आत्मक्षररूप प्रकृतिविकृतिसत्य भी प्राणः–आपः–वाक्–अन्नं–अन्नादः–रूप से पञ्चसत्यात्मक ही है। वैकारिक भूतसत्य भी पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, भेद से पञ्च सत्यात्मक ही है, परन्तु विकाररूप विराट्सत्य अग्नि, वायु, इन्द्र, भेद से त्रिसत्य है। इसी आधार पर **'त्रिःसत्या वै देवाः'** यह निगम प्रतिष्ठित है। प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू, आपोमूर्त्ति परमेष्ठी, वाङ्मूर्त्ति सूर्य्य, अन्नमूर्त्ति चन्द्रमा, अन्नादमूर्त्ति भूपिण्ड, ये पाँच पुण्डीर पञ्च ब्रह्मसत्य हैं, जिनकी समष्टि को पूर्व में 'उपेश्वरषोडशी' बतलाया गया है। इन पाँचों ब्रह्मसत्यों में से पाँचवें भूपिण्डात्मक ब्रह्मसत्य के आधार पर पूर्वप्रदर्शिता त्रैलोक्यत्रिलोकी रूपा महिमा पृथिवी का वितान हुआ है। इस महापृथिवी के अदितिरूपा पृथिवी से ही विराट्–रूप देवसत्य का सम्बन्ध है।

अदितिपृथिवी के ६–१५–२१ स्तोमों में अग्नि तत्त्व व्याप्त है, अतएव इसे आग्नेयी त्रिलोकी माना गया है। तीनों स्तोमप्रदेशों में क्रमशः घनाग्नि (अग्नि), तरलाग्नि (वायु), विरलाग्नि (इन्द्र) रूप एक ही अग्नि की तीन अवस्थाएँ प्रतिष्ठित हैं। तीनों अग्नियों के त्रिवृत्करण से क्रमशः वाय्विन्द्रगर्भित त्रिमूर्ति

अग्नि, अग्नीन्द्रगर्भित त्रिमूर्त्ति वायु, अग्निवायुगर्भित त्रिमूर्त्ति इन्द्र, इन तीन सर्वभावों का उदय होता है। त्रिमूर्त्ति, अर्थप्रधान अग्नि विराट् है, त्रिमूर्त्ति क्रियाप्रधान वायु हिरण्यगर्भ है, त्रिमूर्त्ति ज्ञानप्रधान इन्द्र सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ की प्रतिष्ठा २१ विंश स्तोम है, आशय (व्याप्तिस्थान) सम्पूर्ण अदितिमण्डल है। हिरण्यगर्भ की प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आशय अदितिमण्डल है। विराट् की प्रतिष्ठा त्रिवृत्स्तोम है, आशय अदिति-मण्डल है। तीनों अग्नि के ही तीन विवर्त्त हैं। अग्निप्रधानरूप ही विराट् है। अतएव सहस्रपात् विराट्, सहस्राक्षः हिरण्यगर्भ, सहस्रशीर्षः सर्वज्ञ, तीनों की समष्टि **'विराट्प्रजापति'** नाम से ही व्यवहृत हुई है। यही देवसत्यप्रजापति है, यही साञ्जनप्रजापति है। यही अश्वत्थवृक्ष के भूपिण्डरूप शाखाग्र भाग में प्रतिष्ठित साक्षीसुपर्ण है। सागराम्बरापृथिवी के द्वाविंश स्तोमरूप अन्तरिक्ष में भुक्त चान्द्रसोम इसका प्रज्ञानात्मा है। २१-विंशात्मक सौर प्रवर्ग्यांश विज्ञानात्मा है। त्रयस्त्रिंश स्तोमात्मक पारमेष्ठ्यतत्त्व महानात्मा है। मही-पृथिवी में भुक्त स्वायम्भुवतत्त्व अव्यक्तात्मा है। स्वयं भूपिण्ड भूतात्मा है। भूपिण्ड, द्वाविंशस्तोमावाच्छिन्न सोम, एकविंशस्तोमावच्छिन्न सौरतत्त्व, त्रयस्त्रिंशस्तोमावच्छिन्न पारमेष्ठ्यतत्त्व, अष्टाचत्वारिंशस्तोमावच्छिन्न स्वायम्भुव तत्त्व, क्रमशः, भूतात्मा-प्रज्ञानात्मा-विज्ञानात्मा-महानात्मा-अव्यक्तात्मारूप पञ्चब्रह्मसत्य हैं। पाँचों के भूतात्मारूप भूपिण्डलक्षण ब्रह्मसत्याधार पर वितत विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति त्रिसत्य विराट् प्राणात्मा है। यही ईश्वरात्मा है। वस्तुतः विज्ञानभाषा में इसे ही ईश्वर कहा जाता है, जो उपेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित है। उपेश्वरषोडशी के यच्चयावत् संस्थाविभागों का इस विराडीश्वर में समन्वय हो रहा है। यही विराट्-लक्षण प्रतिमाषोडशी है, जिसे उपेश्वर के गर्भ में प्रतिष्ठित चौथे भूपिण्डात्मक प्रतिमाप्रजापति की प्रतिमा कहा जा सकता है। इसप्रकार प्रतिमाषोडशीरूप सत्यप्रजापति के प्रतिमाषोडशी, उपेश्वरषोडशी, विराट्षोडशी, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। तीनों को हम 'प्रतिमाषोडशी' स्वरूप में अन्तर्भूत मानते हुए तीनों का 'प्रतिमाषोडशी' नाम से ग्रहण कर सकते हैं। विराट्प्रजापति-स्वरूप से सम्बन्ध रखने वाली पार्थिव परिभाषाओं का पूर्व में जो विश्लेषण हुआ है, वह पर्य्याप्त नहीं है। अवश्य ही विराट्-परिभाषा पाठकों को उलझी सी प्रतीत होगी। इस सम्बन्ध में भक्तिपरीक्षा-पूर्वखण्ड की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जायगा। वहाँ मही, सागराम्बरा, अदिति, सर्वज्ञ, हिरण्यगर्भ, विराट्, आदि तत्त्वों का बड़े विस्तार से आगमनिगमदृष्ट्या विश्लेषण हुआ है। प्रकृत विराट्प्रजापति के यथानुरूप समन्वय के लिए एक बार भक्तिपरीक्षा पूर्वखण्ड के तत्प्रकरणावलोकन का हम अपने पाठकों से विशेष आग्रह करेंगे।

७६-ईश्वर-प्रजापति की ३५४ कलाविभूतियाँ—

विराट्प्रजापति के सम्बन्ध में एक बात और बतला कर प्रकृत स्तम्भ से विश्राम लिया जायगा। विराट्-रूप प्रतिमाषोडशी देवसत्यप्रजापति है, तत्त्वभाषा में यही विभूतिलक्षण ईश्वर है। अनन्त ईश्वर की अनन्त विभूतियों का संख्याप्रदर्शन यद्यपि दुस्साहस है, तथापि ऋषिदृष्टि के द्वारा प्रदृष्ट तत्त्ववाद ने इस विभूतिसंख्या को सुगम-सुविज्ञेय बना दिया है। विभूतिदृष्टि से इस देवसत्यप्रजापति में **आत्मकलाविभूति, सामान्यकलाविभूति, विशेषकलाविभूति,** ये तीन विभूतियाँ हैं। तीनों क्रमशः ७२, २३२, ४१, संख्याओं में विभक्त हैं। सम्भूय ३५४ (तीनसौ चौवन) विभूतियाँ हो जातीं हैं, जिनका श्राद्धविज्ञान के **'आत्म-विज्ञानोपनिषत्'** प्रथमखण्ड में विस्तार से तात्त्विक विश्लेषण हुआ है। विभूतिस्वरूप की विशेष जिज्ञासा रखने वाले पाठकों को तत्खण्ड ही देखना चाहिए। प्रकृत में विषयसङ्गति की दृष्टि से उनके केवल नाम-मात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं।

(१)–'आत्मकलाविभूतयः'

- १–परात्परकलाः (६)
- २–अव्ययकलाः (६)
- ३–अक्षरकलाः (६)
- ४–आत्मक्षरकलाः (६)

]—अर्द्ध मात्रा

- ५–आत्मकलाः (६)]—अकारः
- ६–प्राणकलाः (६)]—उकारः
- ७–पशुकलाः (१८)]—मकारः

]—आत्मविभूतिकलाः-द्वासप्तति: (७२)

२–सामान्यकलाविभूतयः—

- १–ऋषयः (१२)]—स्वयम्भूः (१)
- २–पितरः (८), ३–असुराः (६६) }—परमेष्ठी (२)
- ४–देवाः (३३), ५–मनवः (४) }—सूर्य्यः (३)
- ६–गन्धर्वाः (२७), ७–ग्रहाः (४०) }—चन्द्रः (४)
- ८–पशवः (५)]—भूमहिमा, ९–जीवाः (३)]—भूः }—पृथिवी (५)

]—सामान्यविभूतिकलाः २३१

३-विशेषकलाविभूतयः—

१-विद्या	(४)	९-एकरसत्त्वम्	(१)
२-कामः	(२)	१०-एकावस्थत्त्वम्	(१)
३-कर्म्म	(७)	११-विश्वव्यापकत्त्वम्	(१)
४-शुक्रम्	(६)	१२-विश्वस्रष्टृत्त्वम्	(१)
५-प्राणः	(१७)	१३-सर्वसाक्षित्त्वम्	(१)
६-इन्द्रियाणि	(५)	१४-सर्ववशित्त्वम्	(१)
७-पूर्णेन्द्रत्त्वम्	(१)	१५-कर्म्माध्यक्षत्त्वम्	(१)
८-सत्यसंकल्पत्त्वम्	(१)	१६-पाप्मासंस्पृष्टत्त्वम्	(१)

—विशेषविभूतिकलाः (५१)

७७-सर्वसंग्रहात्मक सर्वसमन्वय—

प्रतिमाषोडशी की कारणता प्रक्रान्त है। बल्शातीत, निष्कल, अखण्ड अमायी **'अविज्ञेय'** परात्पर परमेश्वर के यत्किञ्चित् प्रदेश में गर्भीभूत, सहस्रबल्शेश्वर, मायाकलापरिग्रहयुक्त, मायी-सकल, **दुर्विज्ञेय,** महेश्वरप्रजापति नामक, अव्ययप्रधान, सनातनषोडशी षोडशी है। विश्वातीत अविज्ञेय परात्पर 'निष्कल' नामक प्रथम कारण है। तद्गर्भीभूत महेश्वरपुरुष नामक षोडशी द्वितीय कारण है। इस अव्ययपुरुषप्रधान सनातन षोडशी से अभिन्न, एकसहस्रपुण्डीर स्वयम्भूविवर्त्तों को अपने गर्भ में रखने वाला अव्यक्त स्वयम्भूरूप, **'आभूप्रजापति'** नाम से व्यवहृत, अक्षरप्रकृतिप्रधान, गुणपरिग्रहयुक्त, ज्ञेय सगुणसत्यप्रजापति ही प्रतिमाषोडशी है। इस प्रतिमाषोडशी के ही सत्य, यज्ञ, विराट्, ये तीन विवर्त्त हैं। सत्यविवर्त्त स्वयं सगुणसत्यप्रजापति है। इसके आधार पर प्रतिष्ठित, परमेष्ठी-सूर्य्य-चन्द्र-भूपिण्ड, इन चार पुण्डीरात्मक चार प्रतिमाप्रजापतियों को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, पुण्डीरस्वयम्भूरूप, **'परमप्रजापति'** नाम से व्यवहृत, प्रकृतिविकृतिरूप आत्मक्षरप्रधान, सर्वहुतयज्ञमूर्त्ति, सविकारप्रजापति ही **विज्ञेय** उपेश्वरषोडशी है, यही एकबल्शेश्वर है। इस एकबल्शेश्वर के भूपिण्ड नामक अन्तिम पर्व के महिमापृथिवीरूप महिमामण्डल में प्रतिष्ठित, अदितिमण्डलावच्छिन्न, विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ-कृतात्मा, ब्रह्मसत्यगर्भित देवसत्यात्मरूप, साञ्जन, **सविज्ञेय** विराट्प्रजापति ही ईश्वरषोडशी है। इसप्रकार आरम्भ के अक्षरप्रधान सगुणप्रजापतिरूप प्रतिमाषोडशी के **विश्वेश्वरषोडशी, उपेश्वरषोडशी, ईश्वरषोडशी,** ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। अतएव तीनों की समष्टि का हम **'प्रतिमाषोडशी'** स्वरूप में अन्तर्भाव कर सकते हैं। विश्वेश्वर-उपेश्वर-ईश्वर-षोडशीलक्षणा ही प्रतिमाषोडशी नामक तृतीय कारण है। इस दृष्टि से निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, ये तीन हीं कारण शेष रह जाते हैं, जिनका प्रकरणारम्भ में उपक्रम हुआ है, एवं यहाँ उपसंहार। इतर यच्चयावत् कारणताओं का इन्हीं तीन कारणताओं में अन्तर्भाव है, जैसाकि वहीं स्पष्ट कर दिया गया है।

उक्त कारणतात्रयी-मीमांसा से एक तथ्य यह भी निकल आता है कि, परमेश्वर, महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर, ईश्वर, पाँचों भाव उपाधिभेद से सर्वथा विभक्त हैं। यह ठीक है कि, वही परमेश्वर है, वही महेश्वर है, वही विश्वेश्वर है, वही उपेश्वर है, वही ईश्वर है, परन्तु गुणदृष्ट्या **'गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्'** न्याय से परमेश्वर महेश्वर से, महेश्वर परमेश्वर से, महेश्वर उपेश्वर से, उपेश्वर महेश्वर से, उपेश्वर विश्वेश्वर से, विश्वेश्वर उपेश्वर से, उपेश्वर ईश्वर से, ईश्वर उपेश्वर से सर्वथा विभिन्न तत्त्व है। यही भेदसहिष्णु अभेद है, यही वास्तविक अद्वैतनिष्ठा है। यही ज्ञानगर्भित भारतीय विज्ञानवाद है। तत्त्ववादानुगता व्यवच्छेदलक्षणा पाण्डित्यदृष्टि के विलुप्तप्राय हो जाने से यह तात्त्विकी अद्वैतनिष्ठा वर्त्तमान में विलुप्तप्राय बन चुकी है। "ईश्वरगर्भित उपेश्वर, सहस्रोपेश्वरगर्भित विश्वेश्वर, विश्वेश्वरगर्भित महेश्वर, ऐसे ऐसे अनन्त-असंख्य महेश्वरगर्भित परमेश्वर एक है। महेश्वर अनन्त हैं। प्रत्येक महेश्वर के गर्भ में विश्वेश्वरानुगत एक एक सहस्र उपेश्वर हैं। प्रत्येक उपेश्वर के गर्भ में विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति एक एक ईश्वर है" इस तात्त्विक विश्लेषण की वास्तव में आज विलुप्ति हो गई है, जिसका एकमात्र कारण है—गीतासिद्धान्तरूप बुद्धियोग की विलुप्ति। सभी भारतीय तत्त्ववाद आज अन्ध-श्रद्धा के पात्र बनते हुए बुद्धियोगसम्पत् से वञ्चित हो गए हैं। यज्ञात्मक कर्म्मकाण्ड का ईश्वरगर्भित उपेश्वर से ही सम्बन्ध है। उपासनात्मक भक्तिकाण्ड का ईश्वरोपेश्वरगर्भित विश्वेश्वर से ही सम्बन्ध है। अव्यक्तात्मक ज्ञानकाण्ड का ईश्वरोपेश्वरविश्वेश्वरगर्भित सहस्रबल्शेश्वर महेश्वर से ही

सम्बन्ध है, एवं सर्वात्मक–सर्वरूप बुद्धिकाण्ड (बुद्धियोग) का ईश्वरोपेश्वरविश्वेश्वरमहेश्वरगर्भित विशुद्ध अव्ययात्मा से ही सम्बन्ध है। विश्वातीत परात्पर चारों काण्डों से अतीत रहता हुआ कर्म्म–भक्ति–ज्ञान–बुद्धियोग, चारों योगों से बहिर्भूत है। इन चारों योगों का मूलाधार अव्ययानुगत बुद्धियोग ही है। अतएव माया–कलादि परिग्रहों के कारण महेश्वर–विश्वेश्वर–उपेश्वर–ईश्वर–भावों में परिणत होने वाला बुद्धियोगात्मक अव्यय ही तत्त्वतः **'योगेश्वर'** है। यही योगेश्वर का तात्त्विक स्वरूपविश्लेषण है, जिसे आप मायादृष्ट्या महेश्वर, गुणदृष्ट्या विश्वेश्वर, विकारदृष्ट्या उपेश्वर, अञ्जनदृष्ट्या ईश्वर, सभी नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। क्योंकि योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के बिना तदनुगत बुद्धियोगस्वरूपपरिज्ञान असम्भव था, महेश्वरादि विवर्त्तभाव परिज्ञानाभाव में योगेश्वरपरिज्ञान असम्भव था। अतएव प्रस्तुत बुद्धियोगपरीक्षा निबन्ध में सर्वप्रथम योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूप का विश्लेषण करना अनिवार्य्य माना गया। एवं इस अनिवार्य्यता की पूर्त्ति के लिए क्रमशः निष्कल–षोडशी–प्रतिमाषोडशी, इन तीन कारणताओं की प्रासङ्गिक मीमांसा करनी पड़ी।

सर्वसंग्रहः—(६४ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

(१)–योगेश्वरतत्त्वविस्तारः—

१ *
१–ऐकान्तिको रसः–निर्विशेषः
२–बलविशिष्टो रसः–परात्परः
}—निष्कलः–आत्मा (प्रथमं कारणम्) (परमेश्वरः)

❋ ❋ ❋

२
१–परात्परपुरुषो मायी——परात्परः
२–षोडशीपुरुषः सकलः——पुरुषः
}मायी, सकलः षोडशी (द्वितीयं कारणम्) (महेश्वरः)

❋ ❋ ❋

३
१–अक्षरः–प्रकृतिः————सगुणः सत्यप्रजापतिर्विश्वेश्वरः
२–आत्मक्षरः–प्रकृतिविकृतिः–सविकारो यज्ञप्रजापतिरुपेश्वरः
३–विकारक्षरः–विकृतिः——साञ्जनो विराट्प्रजापतिरीश्वरः
} प्रतिमाषोडशी (तृतीयं कारणम्)

❋ ❋ ❋

(२)–

* परमेश्वरे प्रतिष्ठितो योगेश्वरः (अव्ययः)———बुद्धियोगाधारः
१–योगेश्वरे प्रतिष्ठितो महेश्वरः (षोडशी)———ज्ञानयोगाधारः

२-महेश्वरे प्रतिष्ठितो विश्वेश्वरः (अक्षरः)———भक्तियोगाधारः
३-विश्वेश्वरे प्रतिष्ठितौ उपेश्वरेश्वरौ (आत्मक्षरविकारक्षरौ) कर्म्मयोगाधारः

* * *

(३)-

* असंख्यमहेश्वरगर्भितः-अखण्डः-निष्कलः-परात्परः **परमेश्वरः-अविज्ञेयः**]-योगातीतः
१-सहस्रवल्शेश्वरगर्भितः-मायी-सकलः-षोडशी **महेश्वरः-दुर्विज्ञेयः**]-बुद्धियोगाध्यक्षः
२-सहस्रपुण्डीरस्वयम्भूगर्भित-अव्यक्तस्वयम्भूरूपः सगुणः-सत्यः **विश्वेश्वरः-ज्ञेयः**]भक्तियोगाध्यक्षः
३-पञ्चपुण्डीरेश्वरः-पुण्डीरस्वयम्भूरूपः, सविकारः, यज्ञः **उपेश्वरः-विज्ञेयः** }-कर्म्मयोगाध्यक्षः
४-महापृथिव्यां प्रतिष्ठितः, देवसत्यात्मा, साञ्जनो विराट् **ईश्वरः-सुविज्ञेयः** }

* * *

(४)-

*-परमेश्वरोऽविज्ञेयः ७६-७७ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
१-महेश्वरो दुर्विज्ञेयः ८०-८१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
२-विश्वेश्वरो ज्ञेयः १००-१०१ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
३-उपेश्वरो विज्ञेयः १०४-१०५ पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः
४-ईश्वरः सुविज्ञेयः-१०६-११०-पृष्ठमध्ये परिलेखद्वारा मीमांसितो द्रष्टव्यः

* * *

एक प्रासङ्गिक गीतादृष्टि का समन्वय कर प्रस्तुत परिच्छेद उपरत हो रहा है। 'ब्रह्म' शब्द गीता में क्षरप्रपञ्च के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अमृतम्' शब्द अक्षर के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'अव्यय' शब्द षोडशी के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'शाश्वतधर्म्म' बलविशिष्ट परात्पर के लिए, एवं 'ऐकान्तिकसुख' शब्द रसैकघन निर्विशेष के लिए प्रयुक्त है। इन आध्यात्मिक पाँचों विवर्त्तों की मूल प्रतिष्ठा आधिदैविक पाँचों विवर्त्त मानें गए हैं। साञ्जन विराट्रूप ईश्वर विकारक्षरात्मक है, सविकार उपेश्वर आत्मक्षरात्मक है। दोनों क्षरात्मक हैं। क्षर ही गीतापरिभाषा में 'ब्रह्म' है। अतएव गीता के 'ब्रह्म' शब्द से इन दोनों का ग्रहण किया जासकता है। अव्यक्तस्वयम्भूरूप सगुण विश्वेश्वर अक्षरात्मक है। अक्षर ही गीता का अमृत है। अत-एव गीता के 'अमृतम्' शब्द से विश्वेश्वर का ग्रहण किया जासकता है। सहस्रवल्शेश्वर षोडशी अव्य-यात्मा है। अतएव गीता के 'अव्यय' शब्द से इस षोडशीमहेश्वर का ग्रहण किया जासकता है। यहाँ तक मायासीमा की अभिव्याप्ति है। अतएव 'संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः' न्याय से माया-सीमा का विलयन अवश्यम्भावी है। अतएव मायाके गर्भ में प्रतिष्ठित महेश्वर (अव्यय), विश्वेश्वर (अमृतम्), उपेश्वर-ईश्वर (ब्रह्म), इन चारों (गीतादृष्ट्या तीनों) विवर्त्तों को शाश्वत नहीं कहा जासकता। मायातीत-

सर्वबलविशिष्ट रसरूप परात्पर ही शाश्वत माना जासकता है। अतएव इसे ही गीता के शब्दों में **'शाश्वतधर्म्म'** कहा जासकता है। यही गीतादृष्ट्या चतुर्थ विभूति है। विशुद्धरसरूप निर्विशेष विशुद्ध-निष्कैवल्य-आनन्दरूप है। अतएव इसे गीता के शब्दों में **'ऐकान्तिक सुख'** कहा जासकता है। इसप्रकार गीता ने **ऐकान्तिक-सुख, शाश्वतधर्म्म, अव्यय, अमृत, ब्रह्म,** इन पाँच शब्दों से क्रमशः वैदिक निर्विशेष, परात्पर, षोडशी-महेश्वर, विश्वेश्वर, उपेश्वर-ईश्वर, इन ६ओं विवर्त्तों का संग्रह कर लिया है, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है-

१ विशुद्धो रसः]———————निर्विशेषः]—		ऐकान्तिकं सुखम् (५)
२ सर्वबलविशिष्टो रसः]———————परात्परः]—		शाश्वतधर्म्मः (४)
३ षोडशीमहेश्वरः (अव्ययप्रधानः)]-अव्ययः]——		अव्ययः (३)
४ विश्वेश्वरः (अक्षरप्रधानः)]--अक्षरः]——		अमृतम् (२)
५ उपेश्वरः (आत्मक्षरप्रधानः) ६ ईश्वरः (विकारक्षरप्रधानः)	—क्षरः]——	ब्रह्म (१)
श्रौती-दृष्टिः		स्मार्त्ती (गीता) दृष्टिः

'ब्रह्मणो'[1] हि प्रतिष्ठाहं, 'अमृतस्या[2]',-व्ययस्य[3] च।
शाश्वतस्य च धर्म्मस्य[4], सुखस्यैकान्तिकस्य[5] च॥

गीता १४।२७।

७८-कारणत्रयी से अनुप्राणिता संस्थात्रयी—

'निष्कलकारणस्वरूपमीमांसा' नामक पूर्व परिच्छेद में सच्चिदानन्दब्रह्म के तीन विवर्त्तों का दिग्दर्शन कराते हुए, एवं—**'प्रतिमाषोडशीकारणस्वरूपमीमांसा'** नामक पूर्व परिच्छेद में अमृतं-ब्रह्म-शुक्रं-नाम की तीन अश्वत्थब्रह्मसंस्थाओं का दिग्दर्शन कराते हुए योगेश्वर के **अधिदैवत, अध्यात्म, अधिभूत,** इन तीन विवर्त्तों का उल्लेख हुआ है। जिस प्रकार निष्कल, षोडशी, प्रतिमाषोडशी, तीनों का स्वरूपपरिज्ञान योगेश्वर के तात्त्विक स्वरूपपरिज्ञान के लिए आवश्यकरूप से अपेक्षित है, एवमेव योगेश्वरस्वरूप के यथावत् समन्वय के लिए उसके अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-विवर्त्तों का भी विश्लेषण आवश्यक रूप से ही अपेक्षित है। अतएव कारणत्रयी-मीमांसा के अनन्तर इस संस्थात्रयीमीमांसा की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

७६–अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूतानुगत दृष्टिकोण का समन्वय—

इन तीनों संस्थाओं का पूर्वपरिच्छेदों में जिस दृष्टिकोण से समन्वय हुआ है, पहिले दो शब्दों में उसका सिंहावलोकन कर लेना आवश्यक होगा । आत्मसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म ईश्वरानुगत है, यही 'अधिदैवतम्' है । स्वसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म जीवानुगत है, यही 'अध्यात्मम्' है । परसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म जगदनुगत है, यही 'अधिभूतम्' है । (६०पृ०) । माया–कलादि परिग्रहों के तारतम्य से पूर्वपरिच्छेदों में सर्वबलविशिष्टरसमूर्त्ति, आत्मलक्षण, अमायी, उन्मुग्ध सच्चिदानन्दलक्षण, निष्कल परात्परब्रह्म (परमेश्वर) के ६ विवर्त्तों का अमृत–ब्रह्म–शुक्ररूप से विश्लेषण हुआ है । मायापरिग्रहयुक्त मायी **परात्परपुरुष**[१], कलापरिग्रहयुक्त सकल **षोडशीपुरुष**[२], दोनों आत्मन्वी (प्रजापति) संस्थाओं की समष्टि ही 'अमृतम्' है । यही आत्मसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्द है । गुणपरिग्रहयुक्त सगुण **सत्यप्रजापति**[३], विकारपरिग्रहयुक्त सविकार **यज्ञप्रजापति**[४], दोनों आत्मन्वी संस्थाओं की समष्टि ही 'ब्रह्म' है । यही स्वसत्ता–ज्ञान–आनन्दसमष्टिरूप सच्चिदानन्दब्रह्म है । अञ्जनपरिग्रहयुक्त **विराट्–प्रजापति**[५], आवरणपरिग्रहयुक्त **विश्वप्रजापति**[६], दोनों आत्मन्वी–संस्थाओं की समष्टि ही 'शुक्रम्' है । द्विभावापन्न अमृत सच्चिदानन्द अव्ययप्रधान बनता हुआ सनातन महाषोडशी है, द्विभावापन्न ब्रह्मसच्चिदानन्द अक्षरप्रधान बनता हुआ प्रतिमाषोडशी है, एवं द्विभावापन्न शुक्र सच्चिदानन्द क्षरप्रधान बनता हुआ उपेश्वरषोडशी है । षोडशी ईश्वरानुगत बनता हुआ 'अधिदैवतम्' है, प्रतिमाषोडशी जीवानुगत बनता हुआ 'अध्यात्मम्' है । उपेश्वरषोडशी विश्वानुगत बनता हुआ 'अध्यात्मम्' है । एकमात्र इसी दृष्टिकोण के आधार पर इन तीनों अमृत–ब्रह्म–शुक्रसंस्थाओं को पूर्वपरिच्छेदों में अधिदैवत–अध्यात्म–अधिभूत–नाम से व्यवहृत कर दिया गया है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है—

(६) १–मायी परात्परपुरुषः
(५) २–सकलः षोडशीपुरुषः
—महेश्वरो महाषोडशी (अमृतम्–ईश्वरानुगतमधिदैवतम्–अव्ययप्रधानम्)।

(४) १–सगुणः सत्यप्रजापतिः
(३) २–सविकारो यज्ञप्रजापतिः
—विश्वेश्वरः प्रतिमाषोडशी (ब्रह्म–जीवानुगतमध्यात्मम्–अक्षरप्रधानम्) ।

(२) १–साञ्जनो विराट्प्रजापतिः
(१) २–सावरणो विश्वप्रजापतिः
—उपेश्वरषोडशी (शुक्रं–जगदनुगतमधिभूतम्–क्षरप्रधानम्) ।

—(६६ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्) ।

प्रकारान्तरेण—(१११ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)—

निष्कलकारणम् १
- *–ऐकान्तिको रसः
- *–बलविशिष्टो रसः

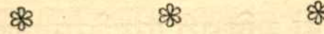
—परात्परः–परमेश्वरः–आत्मा तदेव—

षोडशीकारणम् २
- १–परात्परपुरुषो मायी (माया)
- २–षोडशीपुरुषः सकलः (कला)

—महेश्वरप्रजापतिः–सत्यस्यसत्यम्]–अमृतमुच्यते (अधिदैवतम्)

पु०षो०का० ३
- ३–अक्षरप्रजापतिः सगुणः (गुणः)—विश्वेश्वरः-सत्यप्रजापतिः]–तद्ब्रह्म (अध्यात्मम्)
- १–आत्मक्षरप्रजापतिः सविकारः (विकारः) — उपेश्वरः यज्ञप्रजापतिः
- २–विकारक्षरप्रजापतिः साञ्जनः (अञ्जनम्) — ईश्वरः विराट्प्रजापतिः
- ३–वैकारिकक्षरप्रजापतिः सावरणः (आवरणम्) — विश्वम् विश्वप्रजापतिः

]–तदेव शुक्रम् (अधिभूतम्)



८०–त्रिविध जीवविवर्त्तस्वरूपदिग्दर्शन—

यह तो हुआ सिंहावलोकन। अब प्रकृत दृष्टि से तीनों संस्थाओं का समन्वय कीजिए। विज्ञानभाषा में ईश्वरतत्त्व पार्थिवसंस्था से सम्बन्ध रखने वाले विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति देवसत्यात्मा ब्रह्मसत्यगर्भित साञ्जन विराट्प्रजापति का नाम है। यही प्रकृत दृष्टि है। इसी को आधार बना कर तीनों संस्थाओं का समन्वय करना है। यह ईश्वरतत्त्व ही **साक्षी, भोक्ता,** भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। ईश्वरतत्त्व का 'साक्षी' रूप **'ईश्वर'** कहलाया है, एवं भोक्ता रूप **'जीव'** कहलाया है। जीवस्वरूपात्मक ईश्वर, किंवा ईश्वरस्वरूपात्मक भोक्ता जीव के भी वे ही तीन पर्व हैं, जो तीन पर्व ईश्वरस्वरूपात्मक साक्षी ईश्वर के मानें गए हैं। साक्षी ईश्वर का विराट् पर्व भोक्ता–ईश्वर–[जीव]संस्था में**'वैश्वानर'**कहलाया है। हिरण्यगर्भ पर्व **'तैजस'**, एवं सर्वज्ञ पर्व–**'प्राज्ञ'** कहलाया है। विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञ–पर्वत्रयात्मक पार्थिव–साक्षी ईश्वर से समतुलित वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–पर्वत्रयात्मक पार्थिव भोक्ता जीव के इन तीनों पर्वों के तारतम्य से आगे जाकर जीवसृष्टि त्रेधा विभक्त हो जाती है। जिन जीवों में तीनों पर्व प्रस्फुटित हैं, वे जीव **'ससंज्ञ'** कहलाए हैं। जिन जीवों में तैजस–वैश्वानर, ये दो पर्व प्रस्फुटित, किन्तु प्राज्ञ पर्व अभिभूत है, वे जीव**'अन्तःसंज्ञ'** कहलाए हैं। जिन जीवों में केवल वैश्वानर पर्व प्रस्फुटित, शेष दोनों पर्व अभिभूत रहते हैं, वे जीव **'असंज्ञ'** कहलाए हैं। दूसरे शब्दों में ज्ञानप्रधान जीव ससंज्ञ हैं, क्रियाप्रधान जीव अन्तःसंज्ञ हैं, अर्थप्रधान जीव असंज्ञ हैं। ससंज्ञजीव

'जीवजीव' कहलाए हैं, अन्तःसंज्ञ जीव मूलजीव कहलाए हैं, एवं असंज्ञ जीव धातुजीव कहलाए हैं ! जीवजीव 'चेतनसेन्द्रियजीव' हैं, मूलजीव अर्द्धचेतनत्त्वगिन्द्रियरूपेण 'एकेन्द्रियजीव' हैं, धातुजीव अर्द्धचेतन–'अनिन्द्रियजीव' हैं । चेतन सेन्द्रियजीव 'जङ्गमजीव' हैं, अर्द्धचेतन एकेन्द्रिय मूलजीव, और अचेतन–निरेन्द्रिय धातुजीव, दोनों स्थावरजीव हैं । अतएव तीन जीवविवर्त्तों के जङ्गम, स्थावर, भेद से दो ही जीव-विवर्त्त प्रधान मान लिए जाते हैं। इसप्रकार ईश्वर (विराट्प्रजापति) से उत्पन्न जीववर्ग के चर–अचर भेद से दो ही शेष विवर्त्त रह जाते हैं। ईश्वर 'ईश्वर' है, चर प्रपञ्च 'जीव' है, अचर प्रपञ्च 'जगत्' है। यही ईश्वर–जीव–जगद्रूप त्रिसत्यवादात्मक विशिष्टाद्वैत है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्तिः पार्थिवो महाविराट्प्रजापतिरीश्वरः–साक्षी सुपर्णः—ईश्वरः

वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञमूर्त्तिः–पार्थिवः क्षुद्रविराट् प्रजापतिर्जीवः–भोक्ता सुपर्णः–जीवः

——*——

१ वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञरूपेण प्रस्फुटितः–ससंज्ञजीवः————चेतनः]–जङ्गमो भोक्ता–जीवः

२ वैश्वानर-प्राज्ञरूपेणाभिभूतस्तैजसरूपेण प्रस्फुटितः-अन्तःसंज्ञजीवः-अर्द्ध चेतनः }

३ प्राज्ञतैजसरूपेणाभिभूतो वैश्वानररूपेण प्रस्फुटितः–असंज्ञजीवः–अचेतनः } स्थावरो भोक्ता–जगत्

——*——

८१–'अधिदैवत' उपाधि का अधिकारी परमविराट्प्रजापति—

माया–कला–परिग्रहयुक्त षोडशीपुरुष (महेश्वरप्रजापति) अव्ययप्रधान माना गया है । उक्त त्रित्त्ववाद के विराट्–हिरण्यगर्भ–सर्वज्ञमूर्त्ति विराट्–रूप ईश्वर के साथ इस अव्ययप्रधान महेश्वर का प्रधान सम्बन्ध है, एकमात्र इसी आधार पर गीता में ईश्वरतत्त्व का–'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' यह लक्षण कर दिया गया है। महाविराडीश्वर ही अधिदैवतम् है । महेश्वर षोडशी का इस से प्रधान सम्बन्ध है। इसी दृष्टिकोण से पूर्वपरिच्छेदों में अमृत–संस्थात्मक सत्यस्यसत्यं–लक्षण–अव्ययप्रधान महेश्वर–प्रजापति को 'अधिदैवतम्' कह दिया गया है। अधिदैवतम् में 'दैवत' पद पठित है, जो देवभाव का सूचक है। उधर देवसत्यात्मा केवल विराट् ही है । अतः तत्त्वतः 'अधिदैवत' उपाधि का यही अधिकारी माना जायगा।

८२–'अध्यात्म' उपाधि का अधिकारी क्षुद्रविराट्प्रजापति—

गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति अक्षरप्रधान माना गया है। विराडीश्वर के अंशभूत वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञ–रूप भोक्ता जीव के साथ इस अक्षरप्रधान सत्यप्रजापति का प्रधान सम्बन्ध है । एकमात्र इसी आधार पर गीता में जीवप्रकृति का–'जीवभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्य्यते जगत्' यह लक्षण कर दिया गया है। क्षुद्रविराट्–जीव ही 'अध्यात्मम्' है। सत्यप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है । अतः इसी दृष्टिकोण से

ब्रह्मसंस्थात्मक–अक्षरप्रधान–सत्यप्रजापति (विश्वेश्वर) को 'अध्यात्मम्' कह दिया गया है। तत्त्वतः 'अध्यात्मम्' शब्द अक्षरानुगत–विराडंशभूत चेतनजीववर्ग के साथ ही सम्बद्ध है।

८३–'अधिभूत' उपाधि का अधिकारी शिपिविष्टप्रजापति—

विकारपरिग्रहात्मक यज्ञप्रजापति (उपेश्वर) आत्मक्षरप्रधान माना गया है। विराडीश्वर के अंशभूत स्थावरजीव के साथ इस आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति का ही प्रधान सम्बन्ध है। एकमात्र इसी आधार पर गीता में इस जगत्प्रकृति का 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' यह लक्षण किया गया है। यज्ञविराड्रूप जगत् ही 'अधिभूतम्' है। यज्ञप्रजापति का इसी से प्रधान सम्बन्ध है। इस दृष्टिकोण से शुक्रसंस्थात्मक–आत्मक्षरप्रधान यज्ञप्रजापति (उपेश्वर) को पूर्व में 'अधिभूतम्' कह दिया गया है। तत्त्वतः अध्यात्मम् शब्द आत्मक्षरानुगत–विराडंशभूत–अचेतन जीववर्ग के साथ ही सम्बद्ध है। इस विवेचन से हमें इस निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ा कि, महेश्वराव्ययानुगत साक्षी अंशी महाविराट् ही ईश्वर है, यही अधिदैवतम् है। विश्वेश्वरानुगत भोक्ता–अंश–जङ्गम–क्षुद्रविराट् ही जीव है, यही अध्यात्मम् है। एवं उपेश्वरात्मक्षरानुगत अंश–स्थावर–शिपिविष्ट ही जगत् है, यही 'अधिभूतम्' है। यही त्रिसंस्था का प्रकृत दृष्टिकोण है। इसी का क्रमशः विश्लेषण अपेक्षित है।

प्रकृतदृष्टिकोणानुगता संस्थात्रयी—

महेश्वराव्ययानुगतः—विराड्हिरण्यगर्भसर्वज्ञमूर्त्तिर्विराडीश्वरः–परमविराट्—"अधिदैवतम्"
विश्वेश्वराक्षरानुगतः–वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्तिर्जङ्गमो जीवः—क्षुद्रविराट्—"अध्यात्मम्"
उपेश्वरात्मक्षरानुगतः–तैजसप्राज्ञगर्भितं वैश्वानरमयं स्थावरं जगत्–शिपिविष्टः—"अधिभूतम्"

* * * *

८४–सावरणविश्वप्रजापति का स्वरूपसमन्वय—

पाठकों को उनके एक प्रश्न का हम स्मरण करा देना आवश्यक समझते हैं। मायादि परिग्रहों का विश्लेषण करते हुए अञ्जन नामक ६ ठे परिग्रह पर ही विश्राम मान लिया गया है। माया–कला–परिग्रहयुक्त महेश्वर, गुणपरिग्रहयुक्त सत्यप्रजापति, विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञप्रजापति, अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट्प्रजापति, इसप्रकार माया से आरम्भ कर अञ्जनपर्य्यन्त पाँच परिग्रहों का विश्लेषण हुआ है। यदि सावरण विश्वप्रजापति से त्रैलोक्यत्रिलोकीरूप सप्तभुवन अपेक्षित हैं, तो इसका तो यज्ञप्रजापतिस्वरूप में ही अन्तर्भाव हो रहा है, जैसाकि तत्स्वरूपनिरूपण में स्पष्ट कर दिया गया है। फिर आवरणपरिग्रहरूप 'विश्वप्रजापति' का स्वरूप क्या ?, क्यों इसे एक स्वतन्त्र संस्था माना गया ?। प्रश्न का उत्तर संकेत द्वारा पूर्व में दिया जा चुका है। पूर्व परिच्छेदों में विभिन्न दृष्टियों से समन्वित होने वाले षट्–परिग्रहों में से केवल दो दृष्टियों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जारहा है। परात्परात्मा मायी है, पुरुषात्मा सकल है, अक्षरात्मा सगुण है, आत्मक्षरात्मा सविकार है, विकारक्षरात्मा साञ्जन है, वैकारिकात्मा सावरण है। ये ही ६ ओं विवर्त्त क्रमशः महेश्वर, षोडशी, सत्य, यज्ञ, विराट्, विश्वम्, हैं, (देखिए पृ० सं० ९२)। यही एक दृष्टिकोण है। यहाँ सावरण 'विश्व' को सत्त्वात्मक बतलाया गया है। सत्त्व जीववर्ग का नाम है।

फलतः सावरण विश्व से इस सत्त्वात्मक जीववर्ग का ही ग्रहण न्यायसिद्ध बन जाता है । सत्त्वजीवरूप विश्व उपेश्वरशरीररूप सप्तभुवनात्मक महाविश्व से पृथक् तत्त्व है । प्रश्नसमाधि गतार्थ है । दूसरा दृष्टिकोण **'चतुष्टयं वा इदं सर्वम्'** निगम से सम्बन्ध रखता है । मायायुक्त महेश्वर, तथा कलायुक्त षोडशी, दोनों की समष्टि **'महेश्वरप्रजापति'** है । गुणपरिग्रहयुक्त सत्य तत्त्व **विश्वेश्वरप्रजापति** है । विकारपरिग्रहयुक्त यज्ञतत्त्व **उपेश्वरप्रजापति** है । अञ्जनपरिग्रहयुक्त विराट्, और आवरणपरिग्रहयुक्त विश्व (जीवत्रयी), **ईश्वरप्रजापति** है । इस दृष्टि से चार विवर्त्त हो रहे हैं (देखिए-पृ० सं० ६२) । जबकि महाविश्वात्मक, तत्त्वतः 'विश्व' शब्दवाच्य विश्व-अर्थ का उपेश्वर में अन्तर्भाव हो जाता है, तो ईश्वरप्रजापति के गर्भ में प्रतिष्ठित सावरण विश्व के लिए केवल सत्त्ववर्ग (जीववर्ग) ही शेष बचता है । उसी का 'सावरण विश्वप्रजापति' से ग्रहण करना चाहिए । प्रत्येक जीव का अपना अपना पाञ्चभौतिक शरीर अपना अपना विश्व है । इस स्व-स्व विश्व के तत्तज्जीव पति बनते हुए विश्वप्रजापति हैं । अंशरूप होने से ये विश्वप्रजापति (जीव) नाना हैं * । जिस प्रकार हमारे शरीरधातुओं में असंख्य जीवाणु व्याप्त हैं, एवमेव विराट्शरीर में जीवाणु-स्थानीय असंख्य विश्वप्रजापति व्याप्त हैं । उपेश्वरसाहस्री के भेद से ऐसे ऐसे विराडीश्वर एक सहस्र हैं । यही इन संस्थाओं का क्रमिक दहरोत्तरसम्बन्ध है, जिसका निष्कर्ष है-**'सर्वमिदमनन्तम्'** । निष्कर्ष यही निकला कि, महाविराट्प्रजापति के अंशभावों से सम्बन्ध रखने वाले खण्ड-खण्डात्मक-सत्त्वरूप (जीवरूप) क्षुद्र-विराट् ही सावरण विश्वप्रजापति है । इसी के साथ अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत संस्थाओं का समन्वय हो रहा है ।

८५-अनश्नन् साक्षी, एवं अश्नन् भोक्ता—

पुनः एक प्रश्न उपस्थित हुआ । विराट्प्रजापतिलक्षण ईश्वर तत्त्व को पूर्व में अधिदैवत कहा गया है । अब यहाँ अधिदैवत का भी सावरण विश्व-(जीव)-संस्था से ही सम्बन्ध बतलाया जा रहा है । दोनों विरुद्ध भावों का समन्वय कैसे सम्भव है ? । उत्तर विराट्-ईश्वर के ही दो विवर्त्तों से सम्बन्ध रखता है । भूकेन्द्र से आरम्भ कर भूमहिमा के ४८ वें अहर्गणपर्य्यन्त व्याप्त लोकत्रयात्मक पार्थिव त्रैलोक्य में एकरूप से-अखण्डरूप से-व्याप्त विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञमूर्त्ति महाविराट् **'लोकत्रयात्मा'** है । यही विराडीश्वर का मुख्य-तथा प्रातिस्विक विवर्त्त है । यही सर्वसाक्षी विराडात्मा है । प्रत्येक जीव के साथ विभूतिरूप से इस विराट् का सम्बन्ध होता है । जीवानुगता खण्डात्मिका योगमाया से सीमित, जीवलोकसीमा (जीवशरीरसीमा) से सीमित, किन्तु विभूति सम्बन्ध के कारण सर्वथा असङ्गरूप से प्रतिष्ठित खण्ड-खण्डात्मक व्यष्टिरूप विराट् **'सर्वभूतान्तरात्मा'** है । प्रत्येक जीवसंस्था का विराडीश्वर उस जीवसंस्था का ही साक्षी है, अतएव इसे सर्वसाक्षी न कह कर 'जीवसाक्षी' कहा जायगा । अन्य जीवोत्क्रान्ति पर उसका सर्वभूतान्तरात्मारूप जीवसाक्षी विराट् स्वमहिमारूप लोकत्रयात्मक महाविराट् में विलीन हो जायगा, किन्तु अनुत्क्रान्त जीवशरीरों में उनका साक्षीविराट् उन्हीं में प्रतिष्ठित रहेगा । यही प्रत्येक जीवात्मा का प्रातिस्विक साक्षी विराडीश्वर कहलाएगा । महाविराट् जहाँ त्रैलोक्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, वहाँ यह जीवसाक्षीविराट् जीवशरीर के केन्द्र में

***-"अंशो नानाव्यपदेशात्, अन्यथा चापि-दाशकितवादित्वमधीयत एके"**

—व्याससूत्र २।३।१७।४३।

रहता है। जीवशरीर में हीं ईश्वर, जीव, नाम के दो तन्त्रायी मानें गए हैं। हृदयस्थ सर्वभूतान्तरात्मा साक्षी तन्त्रायी है, यही ईश्वर है। तदनुगत भूतात्मा (जीवात्मा) भोक्ता तन्त्रायी है, यही जीव है। दोनों सुपर्ण एक ही हृद्बिन्दु में सयुग्रूप से प्रतिष्ठित हैं। **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** इत्यादि मन्त्रवर्णनानुसार उसी भौतिक शरीर में प्रतिष्ठित एक (साक्षी हृदयस्थ ईश्वरविराट्) **अनश्नन् अभिचाकशीति**। भोगमर्य्यादा से असंस्पृष्ट रहता हुआ भोग भोगने वाले भोक्ता सुपर्ण (जीव) की चौकसी कर रहा है। दूसरा (भोक्ता हृदयस्थ जीवविराट्) 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' भोगों में लिप्त रहता है। गीता के शब्दों पर लक्ष्य दीजिए—

"सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति" ॥

—गीता १३।१३।

८६–ईश्वरभावानुगत गीतावचनसमन्वय—

'सर्वमावृत्य तिष्ठति' लक्षण महाविराडीश्वर ही वर्त्तुलवृत्ताकाराकारित बनता हुआ केन्द्रानुगत शक्तियों का परिधिपर्य्यन्त समानरूप से प्रसार करने में समर्थ बनता हुआ सर्वतःपाणिपादादि लक्षण बन सकता है। 'लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' ही 'सर्वमावृत्य तिष्ठति'। यही समष्टिरूप लोकत्रयात्मा विराट् है। उक्तलक्षण लोकत्रयात्मा विराट् के अंशभूत विराट् का ही नाम जीवानुगत विराट् है। वही विभूतिरूप से हृदयस्थ जीवसाक्षी विराट् है, वही चितिरूप से हृदयस्थ जीवविराट् है। दोनों अभिन्न रूप से एक ही शरीरसंस्था में प्रतिष्ठित हैं। विभूतिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्थ जीवसाक्षी ईश्वरविराट् सर्वेन्द्रियविवर्जित है, असक्त है, निर्गुण है। चितिसम्बन्धावच्छिन्न हृदयस्थ जीवविराट्–सर्वेन्द्रियगुणाभास है, सर्वभूत है, गुणभोक्ता है। पूर्वश्लोक से भगवान् ने समष्टिलक्षण लोकत्रयात्मा महाविराट् का दिग्दर्शन कराया, एवं निम्न लिखित उत्तरश्लोक से व्यष्टिलक्षण हृदयावच्छिन्न ईश्वरविराट् के साक्षी, भोक्ता दोनों विवर्तों का सहैव दिग्दर्शन कराया—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं (जीवविराट्) —भोक्ता हृदयस्थः
सर्वेन्द्रियविवर्जितम् (ईश्वरविराट्)—साक्षी हृदयस्थः
असक्तं————(ईश्वरविराट्)
सर्वभृच्चैव———(जीवविराट्)
निर्गुणं————(ईश्वरविराट्)
गुणभोक्तृ च———(जीवविराट्)—गीता० १३।१४।

जिस प्रकार जीवविराट् स्वस्थानसमतुलित सर्वभूतान्तरात्मलक्षण अपने जीवसाक्षी विराट् से अभिन्न है, एवमेव यह जीवसाक्षीरूप व्यष्टिविराट् उस समष्टिरूप लोकत्रयात्मलक्षण महाविराट् से अभिन्न है। वही तो विभूतिसम्बन्ध से जीवसाक्षी बना है। लोकत्रयात्मा, सर्वभूतान्तरात्मा, दोनों की इस अभिन्नता का, साथ ही दोनों के प्रातिस्विक विभिन्नधर्म्म–भावों का स्पष्टीकरण करते हुए आगे जाकर भगवान् कहते हैं–वह अपने

समष्टिरूप से सबसे बहिर्भूत है, अपने व्यष्टिरूप से सबमें अन्तःप्रविष्ट है। समष्टिरूप से वह अचर है, व्यष्टिरूप से वह चर है। समष्टिरूप से वह सुसूक्ष्म बनता हुआ अविज्ञेय है, दूरस्थ है। व्यष्टिरूप से वह विज्ञेय है, समीपस्थ (जीव के समीप) है। सम्पूर्ण भूतों में वह अपने समष्टिरूप से अविभक्त है, व्यष्टिरूप से सब व्यष्टियों (जीवों) में विभक्त सा बन कर प्रतिष्ठित है। व्यष्टिरूप से वह जीवरूप भूत का (भूतात्मा का) भर्त्ता बनता हुआ भूतभर्त्ता है, जीव के लिए ज्ञेय है, जीव का प्रतिसंचरकाल में ग्रास करता हुआ ग्रसिष्णु है, संचरकाल में जीवप्रभव बनता हुआ प्रभविष्णु है।

बहिः (महाविराट्), अन्तश्च भूतानां-(जीवसाक्षीविराट्)।
अचरं (महाविराट्), चरमेव च (")
सुसूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं (महाविराट्)
चान्तिके च तत् (जीवसाक्षीविराट्) -गीता० १३।१५।
अविभक्तं च भूतेषु (महाविराट्)
विभक्तमिव च स्थितम् (जीवसाक्षीविराट्)
भूतभर्तृ च, तज् ज्ञेयं, ग्रसिष्णु, प्रभविष्णुच (जीवसाक्षीविराट्)

—गीता० १३।१६।

उक्त गीतादृष्टि के अनुसार विराट्प्रजापति के व्यापक, जीवानुगत विभूतिरूप, जीवात्मक चितिरूप, भेद से तीन विवर्त्त हो जाते हैं। व्यष्टिलक्षण जीवात्मक विराट् भी ज्ञानज्योतिर्म्मय है, व्यष्टिलक्षण विभूतिरूप जीवानुगत जीवसाक्षीविराट् भी ज्ञानज्योतिर्म्मय है। इन समस्त ज्ञानज्योतियों का मूलाधार महाविराट् है। अतएव उस व्यापक विराट् को अवश्य ही-'तमसः परं-ज्योतिषां ज्योतिः' कह सकते है। इसका अपना व्यापक स्वरूप (महाविराट्रूप) तो **'ज्ञानगम्य'** (बुद्धियोगगम्य) है, इसका व्यष्टिरूप जीवसाक्षी स्वरूप **'ज्ञेय'** है, एवं इसका व्यष्टिरूप जीवस्वरूप **'ज्ञान'** (जानने का साधन, ज्ञाता) है। ज्ञानरूप ज्ञाता जीवविराट् है, ज्ञेयतत्त्व जीवसाक्षी विराट् है, ज्ञानगम्य तत्त्व महाविराट् है। इसप्रकार तटस्थ, विभूति, चिति, भावों से वही ज्योतिषां ज्योतिः क्रमशः ज्ञानगम्य-ज्ञेय-ज्ञान (ज्ञाता) रूपों में परिणत होता हुआ व्यापक महाविराट्, जीवानुगत विभूतिविराट्, जीवात्मक चितिविराट्-रूप से तीन भावों का प्रवर्त्तक बन विभूतिरूप से सब प्राणियों के हृदय में प्रतिष्ठित हो रहा है। इसी सर्वसंग्रह का स्पष्टीकरण करते हुए भगवान् ने अन्त में कहा है—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।

(१) ज्ञानं——जीवविराट्
(२) ज्ञेयं——जीवसाक्षीविराट्
(३) ज्ञानगम्यं-महाविराट्

} -हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (विभूतिस्वरूपेण)
--गीता० १३।१७।

* * *

महाविराट्-ईश्वरः-उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

❀ ❀ ❀

जीवसाक्षी-ईश्वरः-ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

* * *

८७-जीवविराड्-भावानुगता स्मार्त्ती दृष्टि—

दो शब्दों में स्मार्त्तदृष्टि से भी विषयसमन्वय कर लीजिए। जीवशरीर में दो तन्त्रायी हैं, यह कहा गया है। हृत्प्रतिष्ठ जीवसंस्था का मूलाधार जीवसाक्षी सर्वभूतान्तरात्मा नामक ईश्वरविराट् **'परमात्मा'** है। यह बन्ध-मोक्ष-भावों से असंस्पृष्ट है। स्वयं जीवात्मा 'भूतात्मा' नामक जीवविराट् है, यही जीवात्मा है, यही कर्म्मात्मा है, जिसे सप्तदशराशि से, बन्ध-मोक्ष भावों से युक्त माना गया है, जिन भावों का 'अध्यात्मसंस्था' नामक अगले परिच्छेदों मे विस्तार से स्पष्टीकरण होने वाला है। इस दृष्टि से भी केवल जीवसंस्था में हीं ईश्वरविराट् (परमात्मा), जीवविराट् (कर्म्मात्मा), दो अध्यक्षों की सत्ता सिद्ध . हो जाती है, जैसाकि निम्न-लिखित वचनों से स्पष्ट है—

जीवानुगतः-ईश्वरविराट्-तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ॥
न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१॥

❀ ❀ ❀

जीवात्मको जीवविराट्—कर्म्मात्मात्त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ॥
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः ॥२॥

—महाभारत········ ।

* * *

छोड़िए विस्तारक्रम को। यह सिद्ध हो गया कि, साञ्जन महाविराट् से अतिरिक्त विराट् ही के योगमायानुगत जीवसाक्षीविराट्, जीव विराट्, ये दो विवर्त्त और हो जाते हैं। जीवविराट् पूर्वकथनानुसार जङ्गम-स्थावर भेद से दो भागों में विभक्त है। स्थावर जीवविराट् जगत् है, जङ्गम-जीवविराट् जीव है, उभयसाक्षी व्यष्टिरूप हृदयस्थ विराट् ईश्वर है। और ईश्वर-जीव-जगल्लक्षण यह त्रयी उस महाविराट्-साञ्जनप्रजापति के गर्भ में भुक्त है। साञ्जनविराट्प्रजापति के आधार पर प्रतिष्ठित ईश्वरविराट्-जीवविराट्-जगद्विराट्, तीनों सावरण है। यद्यपि ईश्वरविराट् (हृदयस्थ साक्षी विराट्) उस महाविराट् से अभिन्न बनता हुआ स्वस्वरूप से निरावरण है। तथापि जीवात्मिका-खण्डखण्डात्मिका योगमाया-लक्षण जीवावरण के साक्षी बनने से, सावरणा जीवसंस्था में प्रतिष्ठित रहने से इसका भी सावरण-जीवसंस्था में हीं अन्तर्भाव मान लिया गया है, जिस अध्यात्मसंस्थाप्रविष्ट अधिदैवतरूप ईश्वराव्यय की इस योगमायानुगता सावरणता का गीता के द्वारा-'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' इन शब्दों में समर्थन हुआ है।

८८–कारणत्रयी से अनुप्राणिता कार्य्यत्रयी—

सावरणप्रजापति विश्वप्रजापति है, यही सत्त्वात्मक जीवप्रजापति है। माया-कला-गुण-विकार-अञ्जन, इन पाँच परिग्रहों का कारणत्रयी से सम्बन्ध है। आवरण परिग्रह का कार्य्यत्रयी से सम्बन्ध है। निष्कल-षोडशी-प्रतिमाषोडशी, ये तीन कारण हैं, जिनका क्रमशः पूर्व परिच्छेदों में विश्लेषण हुआ है। जीवानुगत सावरण ईश्वरविराट्, जङ्गमजीवात्मक सावरण जीवविराट्, स्थावरजीवात्मक सावरण जगद्विराट्, ये तीन कार्य्य हैं। तीनों में से प्रत्येक कार्य्य के तीनों कारण बने हुए हैं। ईश्वरविराट्रूप कार्य्य 'अधिदैवतम्' है, जीवविराट्रूप कार्य्य अध्यात्मम् है। जगद्विराट्रूप कार्य्य अधिभूतम् है। पञ्चपरिग्रहविशिष्टा कारणत्रयी से विकास कार्य्य की उत्पत्ति हुई ?, प्रश्न का उत्तर षष्ठ आवरणपरिग्रहविशिष्टा यही कार्य्यत्रयी है, जिसका स्वरूप बिजिज्ञास्य है। यहाँ आकर ६ ओं परिग्रहों का, तीनों कारणों का, तीनों कार्य्यों का निर्विरोध समन्वय हो जाता है, जैसा कि परिलेख से स्पष्ट है।

योगेश्वरस्य कारण–कार्य्यस्वरूपप्रदर्शनम्— (१११ पृष्ठेऽपि द्रष्टव्यम्)

———*

१
१–ऐकान्तिको रसः–निर्विशेषः
२–बलविशिष्टो रसः-परात्परः
—निष्कलः (प्रथमं कारणम् १)

———*

२
१–परात्परपुरुषो मायी–परात्परः
२–षोडशीपुरुषः सकलः-पुरुषः
—(षोडशी द्वितीयं कारणम् २)

———*

३
१–अक्षरः-प्रकृतिः (सगुणः सत्यप्रजापतिर्विश्वेश्वरः)
२–आत्मक्षरः-प्रकृतिविकृतिः (सविकारो यज्ञप्रजापतिरुपेश्वरः)
३–विकारक्षरः-विकृतिः (साञ्जनो महाविराट्प्रजापतिरीश्वरः)
—प्रतिमाषोडशी (तृतीयं कारणम् ३)

———*

ब्रह्म–कारणत्रयी (आत्मा)

प्रथमकारणात्मकनिष्कल,–द्वितीयकारणात्मकषोडशी,–तृतीयकारणस्य–अक्षरप्रकृतिरूप-विश्वेश्वर,–आत्मक्षरप्रकृतिविकृतिरूपोपेश्वर,–गर्भितः–विकारक्षररूपेश्वररूपस्तृतीयकारणात्मकः–कारणत्रयमूर्त्तिः साञ्जनो महाविराट् प्रजापतिः कारणं सावरणस्य कार्य्यात्मकस्य विश्वस्य–

सावरणो विश्व प्रजापतिः (जीवसर्गः	१–जीवानुगतः साक्षीविराट् (साक्षी)–ईश्वरः (अधिदैवतम्) प्रथमंकार्य्यम् २–जीवात्मको जीवविराट् (जङ्गमजीवः)–जीवः (अध्यात्मम) द्वितीयंकार्य्यम् ३–जगदात्मको जगद्विराट् (स्थावरजीवः)–जगत् (अधिभूतम्) तृतीयंकार्य्यम्	सैषा–कार्य्यत्रयी 'विश्वम्'

* * *

८९–उभयविराट्स्वरूपसमर्थक श्रौत–स्मार्त्त–वचन–

इमान्यत्र संग्रहवचनानि विमर्शनीयानि—

लोकत्रयात्मा महाविराट्–अंशी–

स वृक्षकालाकृतिभिः परोऽन्यो यस्मात् प्रपञ्चः परिवर्त्ततेऽयम् ॥
धर्म्मावहं पापनुदं भवेशं ज्ञात्वात्मस्थममृतं विश्वधाम ॥१॥
तमीश्वराणां * परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम् ॥
पतिं पतीनां परमं परस्तात्–विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् ॥२॥
—श्वे० उप० ६।६,७,।

* * *

---

* पुराणसमन्वयः—

–बद्धो, मुक्त, इति व्याख्या गुणतो मे, न वस्तुतः ॥
गुणस्य मायामूलत्वान्न मे मोक्षो, न बन्धनम् ॥१॥
शोकमोहौ सुखं दुःखं, देहापत्तिश्च मायया ॥
स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी ॥२॥
विद्याऽ–विद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव ! शरीरिणाम् ॥
मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्म्मिते ॥३॥
एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते ! ॥
बन्धोऽस्याऽविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः ॥४॥
अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते ॥
विरुद्धधर्म्मिणोस्तात ! स्थितयोरेकधर्म्मिणि ॥५॥

[शेष पृष्ठ १२४ पर देखिए]

सर्वभूतान्तरात्माविराट्-अंशः-

एको देवः सर्व्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ॥
कर्म्माध्यक्षः सर्व्वभूताधिवासः साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च ॥१॥
एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ॥
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं, नेतरेषाम् ॥२॥
नित्यो नित्यानां, चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्॥
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥३॥

श्वे० उप० ६।११,१२,१३,।

* * *

उभयोः समन्वितं रूपम्-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ॥
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥१॥
यत्रा सुवर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति ॥
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश ॥२॥
यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे ॥
तस्येदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद ॥३॥

ऋक् सं०१।१६४।२०,२१,२२।

* * *

परमविराट्-आध्यात्मिक-ईश्वरविराट्-जीवविराट्-त्रयाणामेषां संग्रहः-

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते, विद्याऽविद्ये निहिते यत्र गूढे ॥
क्षरं त्वविद्या, ह्यमृतं तु विद्या, विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥

श्वे०उप०५।१।

* * *

[१२३ पृष्ठ की टिप्पणी का शेषांश]

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे ।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ॥६॥
आत्मानमन्यं च स वेद विद्वानपिप्पलादो न तु पिप्पलादः ॥
योऽविद्यया युक् स तु नित्यबद्धो, विद्यामयो यः स हि नित्यमुक्तः ॥७॥

—श्रीमद्भागवते ११।१०।

९०--जीवानुगता ईश्वर-जीव-जगत्-त्रयी—

अमायी निष्कल परात्पर, माया-कला-परिग्रहयुक्त महेश्वरप्रजापति, गुणपरिग्रहयुक्त विश्वेश्वरप्रजापति, विकारपरिग्रहयुक्त उपेश्वरप्रजापति, इन चारों विवर्त्तों को 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' न्याय से स्वगर्भ में प्रतिष्ठित रखने वाला, अञ्जनपरिग्रहयुक्त महाविराटप्रजापति देवसत्यात्मा पार्थिवेश्वर से आवरणपरिग्रहयुक्त सावरणजीव-सृष्टि का विकास हुआ। '**एकस्यैव ममांशस्य०**' इत्यादि पूर्वोक्त पुराणवचनानुसार महाविराट् के अंशभूत हृदयावच्छिन्न आध्यात्मिकेश्वर विराडीश्वर के विद्यात्मक अविद्यात्मक, दो विवर्त्त हो गए। विद्यात्मकरूप ईश्वर कहलाया, जिसे आध्यात्मिकी योगमाया के सम्बन्ध से हम 'जीव' ही कहेंगे। अविद्यात्मक रूप जीव कहलाया। इसी आधार पर-'**जीवस्यैव महामते**' कहना अन्वर्थ बना। अविद्यात्मक जीव के आगे जाकर जङ्गम-स्थावर, को विवर्त्त हो गए। इस प्रकार अंशात्मक जीव के ही (सत्स्वरूप विश्व के ही) ईश्वर, जीव, जगत्, विद्यात्मक जीव, अविद्यात्मक जङ्गमजीव, अविद्यामय स्थावरजीव), ये तीन विवर्त्त हो गए। तीनों का समुच्चितरूप ही सावरणविश्वप्रजापति कहलाया। ये ही तीनों सावरणरूप क्रमशः अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत कहलाए। तीनों में से क्रमप्राप्त पहिले सावरण अंशात्मक विराडीश्वर से सम्बन्ध रखने वाली अधिदैवतसंस्था की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

९१-जीवविराट्पुरुषानुगता 'आत्मग्राम' स्वरूपमीमांसा—

अधिदैवतलक्षण आध्यात्मिक विराडीश्वर के '**आत्मा, भूतम्**' ये दो प्रधान विवर्त्त माने गए हैं। आत्मा 'आत्मग्राम' कहलाया है, क्योंकि अनेक आत्माओं के समन्वय से एक आध्यात्मिक ईश्वरात्मा का स्वरूप व्यवस्थित हुआ है। भूतं 'भूतग्राम' है, क्योंकि अनेक भूतों के समन्वय से एक आध्यात्मिक ईश्वरभूत का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। पहिले क्रमप्राप्त ईश्वरीय (अधिदैवत) आत्मग्राम की ही मीमांसा कीजिए। बात सब कुछ उपेश्वर, और अंशीरूप महाविराट् के विश्लेषण द्वारा सुनी समझी हुई है। उसीका यहाँ समन्वयमात्र कर लेना है। आध्यात्मिक ईश्वर महाविराट् का अंश है। महाविराट् उपेश्वर का अंश है, उपेश्वर विश्वेश्वर का अंश है। विश्वेश्वर महेश्वर का अंश है। और 'तत्सृष्ट्वा' न्याय से पूर्व पूर्वस्थ अंशी के सर्व-धर्म्मों का उत्तर-उत्तरस्थ अंशों में समन्वय है। तभी तो कारणरूप महाविराट् को सर्वधर्म्मोपपन्न बतलाया गया है। फलतः कार्य्यरूप इस आध्यात्मिक ईश्वर में भी उन सर्वधर्म्मों का समन्वय प्रकृतिसिद्ध बन जाता है। इसी सर्वधर्म्मदृष्टि को लक्ष्य बना कर 'आत्मग्राम' का समन्वय कीजिए।

यह आत्मग्राम **गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, वैकारिकात्मा,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। इस अंशात्मिका ईश्वरविराट्संस्था में महाविराट् के द्वारा भुक्त परात्पर-अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-रूपषोडशकल महेश्वरात्मा ही **गूढोत्मा** है। यह अधिदैवत-अध्यात्म-अधिभूत-तीनों में समान है। इस संस्था में भुक्त-व्यापक अव्यक्त स्वयम्भूरूप अक्षरप्रधान विश्वेश्वरांश इसका **अव्यक्तात्मा** है, यह भी तीनों में समान है। तीसरा वैकारिकात्मवर्ग तीनों में असमान है। पञ्चोपेश्वरांशभूत महाविराट् में भुक्त स्वायम्भुव-पारमेष्ठ्य-सौर-चान्द्र-भौम, पाँचों के अंश इस संस्था में क्रमशः **चिदात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, सर्वज्ञात्मा, महानात्मा, विराडात्मा,** इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। पाँचों विकारात्मा हैं। पाँचों में से पाँचवाँ विराडात्मा **क्षित्यात्मा, वराहात्मा, विराडात्मा, हिरण्यगर्भात्मा, सर्वज्ञात्मा,** इन पाँच भागों में विभक्त है।

चित्यात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के भूपिण्डानुगत अंशी का अंश है। वराहात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के भूवायु-अनुगत अंशी का अंश है। विराडात्मलक्षण विराडात्मा महाविराट् के त्रिवृत्-स्तोमावच्छिन्न वाय्विन्द्रगर्भित अग्निप्रधान त्रिमूर्त्ति विराडग्नि का अंश है। हिरण्यगर्भलक्षण विराडात्मा महाविराट् के पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न अग्नीन्द्रगर्भित वायुप्रधान त्रिमूर्त्ति वायुविराट् का अंश है। सर्वज्ञलक्षण विराडात्मा महाविराट् के एकविंशस्तोमावच्छिन्न अग्निवायुगर्भित इन्द्रप्रधान त्रिमूर्त्ति इन्द्रविराट् का अंश है। इसप्रकार भूपिण्ड, भूवायु, त्रिवृत्, पञ्चदश, एकविंश-स्तोमावाच्छिन्न अग्नि-वायु-इन्द्र, महाविराट् के इन पाँचों अंशियों के अंश ही इस आध्यात्मिक अधिदैवत ईश्वरविराट् के चित्यात्मादि पाँच विराडात्मा कहलाये हैं। पाँचों में चित्यात्मा वराहात्मा, दोनों का एक विभाग है, यही इस ईश्वर का बाह्यात्मा (शरीर) है। विराट्-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञ, तीनों का एक विभाग है, यही इस ईश्वर का अन्तरात्मा (आत्मा) है। यही 'सर्वभूतान्तरात्मा देवसत्यात्मा' है। महाविराट् के पञ्चदश स्तोमावच्छिन्न चान्द्रतत्त्व का अंशभूत महानात्मा ही इसका 'मन' है। महाविराट् के एकविंशस्तोम से अनुगत सौर तत्त्व का अंशभूत सर्वज्ञात्मा ही इसकी 'बुद्धि' है। महाविराट् का त्रयस्त्रिंशस्तोमानुगत पारमेष्ठ्य तत्त्वांशभूत हिरण्यगर्भात्मा ही इसका 'महानात्मा' है। महाविराट् का अष्टा-चत्वारिंशस्तोमानुगत पुण्डीरस्वायम्भुव तत्त्वांशभूत चिदात्मा ही इसका शान्तात्मा है। इसप्रकार महाविराट् के प्रवर्ग्य भागों से कृतरूप इस साक्षी अधिदैवत विराट् के वैकारिकात्मा ९ भागों में विभक्त हो रहे हैं। ९ में चार विकारात्मा हैं, पाँच वैकारिकात्मा हैं। दोनों अभिन्न हैं। अतः ९ की समष्टि को विकारात्मा, वैकारिकात्मा, दोनों नामों से व्यवहृत किया जा सकता है। दसवाँ विश्वेश्वरांशभूत-अव्यक्त स्वयम्भु का अंशभूत तत्त्व अव्यक्तात्मा है। यही इसका प्राकृतात्मा है। ग्यारहवाँ महेश्वरांशभूत गूढोत्मा है, यही इसका पुरुषात्मा है। सम्भूय ईश्वरीय आत्मग्राम में एकादश आत्मविवर्त्तों का समन्वय हो रहा है।

अधिदैवतानुगतः–आत्मग्रामः—

(१) महाविराडऽनुगतः षोडशी महेश्वरः	—तदंशः—	'ईश्वराव्ययो' 'गूढोत्मा'	ईश्वरीय-आत्मग्रामः
(२) महाविराडऽनुगतः अक्षरो विश्वेश्वरः	—तदंशः—	'अव्यक्तात्मा'	
(३) महावि० ४८ स्तोमानुगतं–स्वायम्भुवतत्त्वम्	—तदंशः—	चिदात्मा	
(४) ,, ३३ ,, –पारमेष्ठयतत्त्वम्	—तदंशः—	हिरण्यगर्भात्मा	
(५) ,, २१ ,, सौरतत्त्वम्	—तदंशः—	सर्वज्ञात्मा	
(६) ,, १५ ,, –चान्द्रतत्त्वम्	—तदंशः—	महानात्मा	
(७) ,, २१ ,, –व्यापक-सर्वज्ञतत्त्वम्	—तदंशः—	सर्वज्ञात्मा	
(८) ,, १५ ,, – ,,हिरण्यगर्भतत्त्वम्	—तदंशः—	हिरण्यगर्भात्मा	
(९) ,, ६ ,, – ,,विराट्तत्त्वम्	—तदंशः—	विराडात्मा	
(१०) ,,————भूवायुः	—तदंशः—	वराहात्मा	
(११) ,,————भूपिण्डः	—तदंशः—	चित्यात्मा	

इति नु–अमुत्र–(महाविराट्–पार्थिवेश्वरः–चिदात्मा) चिदात्मा–सर्वेश्वरः—

इति नु–तदन्विह–साक्षीविराट्–अव्ययात्मेश्वरः–चिदंशः (अधिदैवतम्) प्रत्यगात्मा–ईश्वरः

प्रकारान्तरेण—

१-गूढोत्मा——ईश्वरस्य पुरुषात्मा
२-अव्यक्तात्मा— ,, प्राकृतात्मा
—ईश्वरात्मकजीवस्य पुरुषात्मा (सा काष्ठा, सा परा गतिः) ——[1]अमृतसत्यात्मा

३-चिदात्मा— ,, शान्तात्मा——ईश्वरात्मकजीवस्य शान्तात्मा
४-हिरण्यगर्भात्मा-,, महानात्मा——ईश्वरात्मक जीवस्य महान्
५-सर्वज्ञात्मा— ,, विज्ञानात्मा (बुद्धिः)-ईश्वरात्मकजीवस्य बुद्धिः
६-महानात्मा— ,, प्रज्ञानात्मा (मनः)--ईश्वरात्मकजीवस्य मनः

७-सर्वज्ञात्मा— ,, प्राज्ञात्मा
८-हिरण्यगर्भात्मा-,, तैजसात्मा
९-विराडात्मा— ,, वैश्वानरात्मा
—ईश्वरस्य अन्तरात्मा (सर्वभूतान्तरात्मा) (ईश्वरात्मको जीवः) —[2]देवसत्यात्मा | [3]ब्रह्मसत्यात्मा

१०-वराहात्मा— ,, हंसात्मा
११-चित्यात्मा— ,, शरीरम्
—ईश्वरस्य बाह्यात्मा (ईश्वरात्मकजीवस्य शरीरम्)

एकादशविधः-ईश्वरीयः-आत्मग्रामः

[१—गूढोत्मा——पुरुषात्मा (१)
[२—अव्यक्तात्मा-प्राकृतात्मा (२)

वैकारिकात्मा २-६

३-वैकारिकात्मा—

विकारात्मा—। १-चिदात्मा, २-हिरण्यगर्भात्मा, ३-सर्वज्ञात्मा, ४-महानात्मा, ५-विराडात्मा ।

वैकारिकात्मा—। १-सर्वज्ञात्मा, २-हिरण्यगर्भात्मा, ३-विराडात्मा, ४-वराहात्मा, ५-चित्यात्मा, ।

सर्वज्ञादि पञ्चविध वैकारिकात्माओं का विराडात्मा नामक पञ्चम विकारात्मा में अन्तर्भाव है। फलतः वैकारिकात्मा पाँच हीं रह जाते हैं। अव्यक्तात्मा का गूढोत्मा में अन्तर्भाव है। अव्यक्तगर्भित गूढोत्मा गूढोत्मा है, पञ्चविध वैकारिकात्मगर्भित पञ्चविध वैकारिकात्मा अधियज्ञात्मा है। गूढोत्मा को अपने गर्भ में रखने वाला, किंवा गूढोत्मा के गर्भ में प्रतिष्ठित पञ्चविध–वैकारिक–अधियज्ञात्मा ही जीवानुगत अधिदैवतलक्षण ईश्वर विराट् का तात्त्विक स्वरूप है। **'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर !'** वचनानुसार इसी रूप से देहधारी जीवविराट्पुरुषों का वह साक्षी बना हुआ है। तत्त्वतः जीवानुगता ईश्वरविराट्संस्था में गूढोत्मा, पञ्च अधियज्ञात्मा, ये ६ आत्मविवर्त्त प्रतिष्ठित हैं। महाविराट् की जिन ३५४ विभूतियों का पूर्वपरिच्छेद में विश्लेषण हुआ है, वे अंशभूत इस जीवानुगत विराट् में भी यथानुरूप भुक्त हैं। विभूति–सम्बन्ध से जीव का साक्षी बनने वाला यही अंशात्मक विराट् दर्शनभाषा में **'प्रत्यगात्मा'** कहलाया है, जैसा कि अगले परिच्छेद से स्पष्ट किया जाने वाला है।

९२–जीवविराट्पुरुषानुगता 'भूतग्राम' स्वरूपमीमांसा—

यह तो हुई आत्मग्राम की मीमांसा। अब दो शब्दों में ईश्वरीय भूतग्राम की भी मीमांसा कर लीजिए। भूततत्त्व सूक्ष्म–स्थूल भेद से दो भागों में विभक्त है। गुण–अणु–रेणुभूत सूक्ष्मभूत हैं। भूत (रेणुभूतों के पञ्चीकृत महाभूत–प्रत्यक्षदृष्ट) स्थूलभूत हैं। ईश्वरीय भूतग्राम सूक्ष्मभूतात्मक हैं, जिनका पूर्वपरिच्छेद में विस्तार से विश्लेषण किया जा चुका है। जीव के भूत स्थूलभूतात्मक हैं, तदनुगत विराडीश्वर के भूत सूक्ष्मभूतात्मक हैं। इन्हीं ईश्वरीय सूक्ष्मभूतों के आधार पर जीवशरीर के पञ्च स्थूल भूत प्रतिष्ठित हैं। जीवानुगत आत्मग्राम की प्रतिष्ठा ईश्वरीय आत्मग्राम है। जीवानुगत भूतग्राम की प्रतिष्ठा ईश्वरीय भूतग्राम है। प्राण, आपः, वाक्, अन्नादः, अन्नं, ही इसके सुसूक्ष्म भूत हैं, जिन्हें 'तन्मात्रा' भी कहा गया है। अधियज्ञ के पाँचों पर्वों से क्रमशः पाँचों प्राणादि सुसूक्ष्म भूत अनुगृहीत हैं। सर्वान्त का अधियज्ञ बिराडात्मा है, सर्वान्त का भूत 'अन्नम्' हैं। अतएव–**'अन्नं वै विराट्'** (शत०७।५।२।१९।)–**'विराडन्नाद्यम्'** (ऐ०ब्रा०४।१६।८।४) इत्यादि रूप से विराडात्मा को अन्नभूतात्मक मान लिया गया है। यही वह अन्तिम प्रलोभन है, जिसे लक्ष्य बना कर भोक्ता जीव का आविर्भाव हुआ है।विराडात्माका अन्तिम(पाँचवा वैकारिक)पर्व भूपिण्डांशभूत चित्यात्मा है, यह चित्यात्मलक्षण विराट् ही अन्तिम अन्नभूत से युक्त है। भूपिण्ड–तदनुगत अन्न, दोनों की समष्टिरूप विराडात्मा ही जीवसृष्टि की प्रतिष्ठा बनता है, जैसा कि तत् परिच्छेद में हीं स्पष्ट हो जायगा। एक प्रासङ्गिक स्पष्टीकरण और। महाविराट् सर्वतः–पाणिपादादि बनता हुआ जहाँ पूर्णेन्द्र है, वहाँ अर्द्धाकाशरस से कृतात्मा जीवात्मा अर्द्धवृगल बनता हुआ अर्द्धेन्द्र है। तदनुगत अंशभूत इस विराडीश्वर को भी अर्द्धेन्द्रावस्था मे ही परिणत रहना पड़ता है। यही सर्वेन्द्रियगुणाभास अर्द्धेन्द्रमूर्त्ति अधिदैवत–जीवानुगत ईश्वरविराट् का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसे सुविज्ञेय महाविराट् की अपेक्षा–'ज्ञात' कह सकते हैं। सर्वथा इसी अध्यात्म में प्रतिष्ठित यह ज्ञात है। केवल पाप्मावरण से यह अज्ञात बन रहा है। यहाँ आकर अविज्ञेय परात्पर, दुर्विज्ञेय महेश्वर, ज्ञेय विश्वेश्वर, सुज्ञेय उपेश्वर, सुविज्ञेय महाविराडीश्वर, ज्ञात जीवानुगत विराडीश्वर, इन आत्मविवर्त्तों का सर्वात्मना समन्वय हो जाता है। यही इस अधिदैवत तत्त्व का संक्षिप्त इतिवृत्त है, जिसका परिलेख से स्पष्टीकरण हो रहा है।

गूढोत्मा—
अधियज्ञात्मा—

१–अव्यक्तात्मगर्भितो गूढोत्मा (१)	परमाकाशो भूतम् (ज्ञानकर्म्मणी)
१–चिदात्मा	प्राणो भूतम्
२–हिरण्यगर्भात्मा	आपो भूतम्
३–सर्वज्ञात्मा	वाग् भूतम्
४–हिरण्यगर्भात्मा	अन्नादो भूतम्
५–पञ्चात्मगर्भितो विराडात्मा	अन्नं भूतम्
आत्मग्रामः	भूतग्रामः
ईश्वरः–साक्षी विराट्	

१–ज्ञानम्, २–क्रिया, ३–प्राणः (आकाशः), ४–आपः (वायुः), ५–वाक् (तेजः), ६–अन्नादः (पृथिवी), अन्नम् (जलम्), इति सप्तान्नानि सप्तभूतानि।

'यत्सप्तान्नानि तपसाजनयत् पिता'—

इति–भूतग्रामविदः प्राहुः—

आत्मा { १–महाषोडशी गूढोत्मा–ईश्वराव्ययः–सर्वाधिष्ठाता–(विद्याविद्ये–ईशते)

वैकारिकात्मवर्गः—

१–स्वयम्भूः—चिदात्मा प्राणमूर्त्तिः	आकाशः
२–परमेष्ठी—हिरण्यगर्भात्मा अब्मूर्त्तिः	वायुः
३–सूर्य्यः—सर्वज्ञात्मा वाङ्मूर्त्तिः	तेजः
४–चन्द्रमाः—महानात्मा अन्नमूर्त्तिः	जलम्
५–पृथिवी—विराडात्मा अन्नादमूर्त्तिः	मृत्
आत्मग्रामः	भूतग्रामः

६३–प्रत्यगात्मानुगत शारीरिक आत्मा, और 'अध्यात्मम्'—

प्रत्यगात्मा के आधार पर प्रतिष्ठित शारीरिक आत्मा ही 'अध्यात्मम्' है। यही जङ्गम–जीवात्मा है, यही सेन्द्रिय-चेतनद्रव्य है। इस सेन्द्रिय चेतनद्रव्य के अवान्तर १३ विवर्त्त मानें गए हैं। दूसरे शब्दों में चेतन

जीव के १३ श्रेणिविभाग मानें गए हैं, जिनमें ८ का एक विभाग है, ५ का एक विभाग है। बतलाया गया है कि ज्ञानमय प्राज्ञ, क्रियामय तैजस, एवं अर्थमय वैश्वानर, तीनों के तारतम्य से जीववर्ग ससंज्ञ, अन्तःसंज्ञ, असंज्ञ, भेद से तीन भागों में विभक्त है। पाषाण-लोष्ठ-धातु-रस-आदि भौतिक पदार्थों में प्राज्ञ-तैजस, दोनों अभिभूत रहते हैं, अतएव इनमें किसी भी इन्द्रिय का विकास नहीं होने पाता। अतएव च इन्हें अनिन्द्रिय अचेतनद्रव्य कहा गया है। इनमें केवल अर्थमय वैश्वानरात्मा प्रस्फुटित है। अतएव इन प्राज्ञतैजसगर्भित वैश्वानरात्मलक्षण, अनिन्द्रिय, अचेतन जीवों को **'एकात्मकजीव'** कहा गया है। ये ही **'धातुजीव'** नाम से प्रसिद्ध हैं। ओषधि-वनस्पति-लता-गुल्मादि भौतिक पदार्थों में प्राज्ञ अभिभूत है, तैजस, और वैश्वानर प्रस्फुटित हैं। तैजसात्मा प्राज्ञ और वैश्वानर, दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। अतएव प्राज्ञ के यत्किञ्चित् अंश का इन तैजसात्मा-प्रधान जीवों में समावेश हो जाता है। जो अवस्था सुप्त चेतन जीव की है, वही अवस्था इन तैजस जीवों की है। अतएव इन्हें एकेन्द्रिय (त्वगिन्द्रिय) अर्द्धचेतनजीव माना गया है। इनका मूल भूगर्भ में समाविष्ट रहता है, अतएव इन्हें **'मूलजीव'** कहा गया है। इनमें तैजस-प्राज्ञ दोनों आत्माओं का विकास है, अतएव ये **'द्वयात्मकजीव'** नाम से भी प्रसिद्ध है। एकात्मक धातुजीव, द्वयात्मकमूलजीव, दोनों स्थावरजीव हैं। इनमें तमोगुण का प्राधान्य है। अतएव इन्हें **'तमोविशालसर्ग'** नाम से व्यवहृत किया गया है। प्राधानिक शास्त्र ने उभयविध इस जीववर्ग को **'स्तम्ब'** नाम से व्यवहृत किया है। यही विज्ञान-भाषा में 'अधिभूतम्' है, जगत् है, जिसकी अगले परिच्छेद में मीमांसा की जायगी।

६४-त्र्यात्मक जीव, और चतुर्दशविध भूतसर्ग—

अस्मदादि भौतिक सेन्द्रिय द्रव्यों में वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ, तीनों प्रस्फुटित हैं। अतएव इन्हें 'त्र्यात्मक-जीव' कहा जाता है। एकात्मक धातुजीव असंज्ञ थे, द्वयात्मक जीव मूलजीव अन्तःसंज्ञ थे, एवं त्र्यात्मक 'जीव' नामक जीव ससंज्ञ हैं। यही जीववर्ग 'अध्यात्मम्' है, जिसके ८-५ भेद से १३ विवर्त्त हो जाते हैं। **कृमि-कीट-पक्षी-पशु-मनुष्य** पञ्च जीववर्गों का एक विभाग है। इनमें रजोगुण का प्राधान्य है, अतएव इन्हें सांख्यपरिभाषा में **'रजोविशालसर्ग'** कहा गया है। **राक्षस, पिशाच, यक्ष, गन्धर्व, इन्द्र, पितर, प्रजापति, ब्रह्म,** अष्ट जीववर्गों का एक विभाग है, ये ही चान्द्रजीव हैं। इनमें सत्त्वगुण का प्राधान्य है, अतएव ये **'सत्त्वविशालसर्ग'** नाम से व्यवहृत हुए हैं। अष्टविध सत्त्वविशालसर्ग **देवयोनि** हैं, ये ही 'ऊर्ध्वजीव' हैं। पञ्चविध रजोविशालसर्ग **तिर्य्यग्योनि** हैं, ये ही 'मध्यजीव' हैं। द्विविध, किन्तु सांख्य परि-भाषानुसार एकविध (स्तम्ब) तमोविशालसर्ग **भूतयोनि** है, यही मूलजीव हैं। इस दृष्टि से स्तम्ब से आरम्भ-कर ब्रह्मपर्य्यन्त चतुर्दशविध जीव हो जाते हैं। यही **'चतुर्दशविधो भूतसर्गः'** (जीवसर्गः) है। इस चतुर्दशविध भूतसर्ग में से मध्यसर्गात्मक पञ्चविध रजोविशालसर्ग के पञ्च मनुष्यसर्ग में इतर जीवापेक्षया ज्ञान-मात्रा सर्वात्मना प्रस्फुटित है। प्रत्यगात्मलक्षण विराडीश्वर की यच्चयावत् विभूतियों का इसी में पूर्णरूप से समन्वय हुआ है। अतएव यही उस पूर्ण का पूर्ण उदक्त रूप माना गया है—**'पूर्णात पूर्णमुदच्यते'**। इसी आधार पर **'पुरुषो ह वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्'** यह निगम प्रतिष्ठित है। 'अध्यात्मम्' की प्रकृत में जो मीमांसा की जायगी, वह इस पुरुषविध (मनुष्यविध) अध्यात्म को ही प्रधानरूप से लक्ष्य बना रही।

१

- १४–१–ब्रह्म (४)
- १३–२–प्रजापतिः (३)
- १२–३–पितरः (२)
- ११–४–इन्द्रः (१)
- *
- १०–५–गन्धर्वः (४)
- ९–६–यक्षः (३)
- ८–७–पिशाचः (२)
- ७–८–राक्षसः (१)

—सत्त्वविशालसर्गः (देवयोनिः)

२

- ६–१–मनुष्यः
- ५–२–पशुः
- ४–३–पक्षी
- ३–४–कीटः
- २–५–कृमिः

—रजोविशालसर्गः (तिर्य्यग्योनिः)

(१ + २) —अध्यत्मम् (जङ्गमजीवात्मको जीवः)

३

१–१
- १–मूलजीवः —अन्तःसंज्ञाः–अर्द्धचेतनाः
- —स्तम्बः–तमोविशालसर्गः (भूतयोनिः)
- २–धातुजीवः —असंज्ञाः–अचेतनाः

—अधिभूतम् (स्थावरजीवात्मकं जगत्)

(१ + २ + ३) —चतुर्द्दशविधो-भूतसर्गः

* * *

९५--आवरणत्रयी से अनुप्राणिता आध्यात्मिकी विराट्त्रयी—

विकारपरिग्रहयुक्त, 'यज्ञप्रजापति' नामक, उपेश्वरषोडशी की अन्तिम पर्वरूपा पृथिवी का अमृत-चितेनिधेय प्राण ही अञ्जन परिग्रह के द्वारा 'ईश्वर' नामक 'महाविराट्' स्वरूप में परिणत हुआ है, यह स्पष्ट किया जा चुका है। जीवानुगत, प्रत्यगात्मलक्षण साक्षीविराट्, जीवविराट्, जगद्विराट्, तीनों इसी महाविराट् से प्रसूत हैं। तीनों का क्रमशः सत्त्वाऽञ्जन, रजोऽञ्जन, तमोऽञ्जन–भावों से सम्बन्ध है। सत्त्वाऽञ्जन विभूति है, रजोऽञ्जन पाप्मा है, तमोऽञ्जन आवरण है, जैसाकि पूर्व में परिलेखद्वारा स्पष्ट किया जा चुका है (देखिए ८८ पृष्ठ)। विभूति नामक सत्त्वाऽञ्जन सत्त्वावरण है, पाप्मा नामक रजोऽञ्जन रजोरूप आवरण है, आवरणरूप तमोऽञ्जन तमोरूप आवरण है। तीनों से सावरण साक्षी ईश्वर, सावरण भोक्ता जीव, सावरण भोग्यजगत्, इन तीन सावरण विश्वप्रजापतियों का विकास हुआ है। जिस प्रकार विभूति रूप आवरण–वेद, लोक, देव, पशु, भूत, भेद से पाँच भागों में विभक्त है, एवमेव जीवस्वरूप सम्पादकपाप्मारूप आवरण 'पर्य्याय, ऊर्म्मि, आशय, अवस्था, क्लेश, कर्म्मविपाक, एवं आशय'' भेद से सात भागों में विभक्त माना गया है, जैसा कि आगे स्पष्ट होने वाला है।

९६–चिदात्मानुगत चिदंश, चिदाभास, और चित्य-विवर्त्त—

साञ्जन महाविराट् 'चिदात्मा' है। यह वृक्षवत् स्तब्ध, नित्यकूटस्थ, सर्वतःपाणिपाद–अक्षिशिरोमुख है। यह सर्वथा व्यापक है। इसका जीवात्मा से कोई सम्बन्ध नहीं है। निग्रहानुग्रह से असंस्पृष्ट यह चिदात्मा आलम्बन (सर्वालम्बन] मात्र है—'न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते'। यही आवपनलक्षण 'खं ब्रह्म' है, महामायावच्छिन्न मायी महेश्वर [षोडशीपुरुष] से समतुलित है। एवंविधे यह महाविराट जीवानुगता योगमाया [योगमायात्मिका आवरणत्रयी] से अंशात्मना युक्त हो कर 'चिदंश' नाम धारण कर लेता है। विभूति आवरण से युक्त चिदंश साक्षीविराट् है, पाप्मावरण से युक्त चिदंश भोक्ता जीवविराट् है, आवरणात्मक आवरण से युक्त चिदंश भोग्य जगद्विराट् है। इसप्रकार आवरणत्रयी के सम्बन्ध से योगमाया–वच्छिन्न चिदंश के ही ईश्वर-जीव-जगत्-ये तीन विवर्त्त हो जाते हैं। विभूतिसम्बन्ध असङ्ग सम्बन्ध है। पाप्मासम्बन्ध संशरबन्धन नामक योग सम्बन्ध है, आवरणसम्बन्ध ग्रन्थिबन्धन नामक चिति सम्बन्ध है। असङ्ग चिदंश ईश्वर है, योगात्मक चिदंश जीव है, चित्यात्मक चिदंश जगत् है। इसप्रकार विभूति–योग–चिति, इस सम्बन्धत्रयी के सम्बन्ध से चिदंश तीन विवर्त्तभावों में परिणत हो रहा है। ये ही तीनों विवर्त्त क्रमशः—चिदंश, चिदाभास, चित्य, नाम से व्यवहृत हुए हैं। चित्यात्मक चिदंश [भोग्यजगत्] भोक्ता जीव के वैषयिक सुख का साधक बनता हुआ 'कं ब्रह्म' है। चिदाभासात्मक चिदंश [भोक्ता जीव] चित्यात्मक चिदंश से रममाण होता हुआ 'रं ब्रह्म' है। चिदात्मारूप व्यापक महाविराट्–लक्षण 'खं ब्रह्म' से अभिन्न चिदंशात्मक चिदंश [साक्षी ईश्वर] चिदाभासलक्षण चिदंश [जीव] को निग्रहानुग्रहद्वारा प्रकृतिस्थ बनाए रखने वाला शान्तिस्वस्त्ययनप्रवर्त्तक 'शंब्रह्म' है। 'खं' रूप आवपन में शं–रं–कं–रूपा आवरणत्रयी प्रतिष्ठित है।

चिदात्मा	❀–चिदात्मा—साञ्जनो महाविराट्–अविभक्तो व्यापकः—खं ब्रह्म (आवपनम्)।
चिदंशाः	१–चिदंशात्मकश्चिदंशः—साक्षीविराट्-निग्रहानुग्राहकः—शं ब्रह्म (अन्नादभोक्ता)।
	२–चिदाभासात्मकश्चिदंशः—भोक्ताविराट्—निग्रहीतानुग्रहीतः—रं ब्रह्म (अन्नादः)।
	३–चित्यात्मकश्चिदंशः—भोग्यविराट्—कं ब्रह्म (अन्नम्)।

❀ ❀ ❀

९७–चिद्ग्राहक वीध्रतत्त्व—

चित्यात्मक चिदंश की मीमांसा अधिभूत-परिच्छेद में की जायगी। अभी चिदंशात्मक चिदंश (साक्षीविराट्), एवं चिदाभासात्मक चिदंश, (भोक्ता जीव) ये दो चिदंश विवर्त्त मीमांस्य हैं। चिदंशात्मक चिदंश प्रत्यगात्मा है, चिदाभासात्मक चिदंश शारीरक आत्मा है। दोनों का मूल चिदात्मात्मक महाविराट् है। उदाहरणार्थ प्रतिबिम्ब-दृष्टि को लक्ष्य बनाइए। दर्पण, जलपूर्णपात्र, स्फटिकमणि, आदि वीध्र* पदार्थों में एक प्रकार का प्रतिबिम्बग्राहक धर्म्म है। वही धर्म्म **'वीध्रगुण'** कहलाया है। वीध्रगुणक, अतएव प्रतिबिम्ब ग्राहक इन पदार्थों के साथ सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध होता है। यह सम्बन्ध आतप, तथा बिम्ब, रूप से दो भागों में विभक्त हो जाता है। जलपात्र में सूर्य्य बिम्ब की प्रतीति होती है। जलपात्रस्थ सूर्य्यबिम्ब उस महान् सूर्य्य का बिम्ब है, अतएव इसे **'प्रतिबिम्ब'** कहा जाता है। आधार-पात्रों के भेद से ये प्रतिबिम्ब अनेक हो जाते हैं। एक जलपात्ररूप योगमाया की उत्क्रान्ति से तत्प्रतिबिम्ब ही उत्क्रान्त होता है।

९८—सूर्य्यदृष्टान्त माध्यम से चिदंश–विवर्त्त–त्रयी का समन्वय—

शेष प्रतिबिम्ब ज्यों के त्यों सुरक्षित बने रहते हैं। इस प्रतिबिम्बित सूर्य्य का जलपात्र के साथ संशर–बन्धनात्मक योगसम्बन्ध है। इस प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त आतप (धूप–प्रकाश–ज्योति) रूप से भी इस पात्र में सूर्य्यज्योति का सम्बन्ध रहता है। स्थूलदृष्ट्या प्रतिबिम्बवत् यह आतप जलपात्रावच्छिन्न बनता हुआ भी तत्त्वतः अपरिच्छिन्न है, असङ्ग है। इस आतपरूप सूर्य्यज्योति का जलपात्र के साथ असङ्गलक्षण विभूति सम्बन्ध है। दोनों हीं ग्रन्थिबन्धनरूप चितिभाव से बहिर्भूत हैं। दर्पण पर आप की आकृति खचित होजाती है। दर्पण के साथ आपकी आकृति का योगसम्बन्ध है। भूतमय कृष्णपट्ट (प्लेट) पर आप का चित्रात्मक प्रतिबिम्ब (फोटो) खचित होजाता है। इस चित्राकृति का उस पट्ट के साथ ग्रन्थिबन्धनात्मक चितिसम्बन्ध है। इसप्रकार आतप, दर्पणाकृतिरूप प्रतिबिम्ब, कृष्णपट्टखचित चित्र, भेद से तीन विवर्त्त होजाते हैं। तीसरे विवर्त्त का चित्यात्मक चिंदश (जगत्) से सम्बन्ध है। शेष दोनों का ईश्वर–जीवभाव से सम्बन्ध है। व्यापक महाविराट् सूर्य्यस्थानीय है। शरीररूप पात्र में आलोमभ्य –आनखाग्रेभ्यः व्याप्त पारमेष्ठ्य आपोमय वीध्र–गुणक महान् जल है। इस पर प्रतिबिम्बित चिदाभास प्रतिबिम्बत सूर्य्यस्थानीय है। विभूतिसम्बन्धसे युक्त

*** मसृणअणु परमाणु समूहात्मक समधरातल ही 'वीध्र' है। यही प्रतिबिम्बग्रहण की योग्यता रखता है।**

चिंदश आतपस्थानीय है। आतपस्थानीय चिदंश चिदंश है, यही विभूतिलक्षण प्रत्यगात्मा (ईश्वरात्मा) है। प्रतिबिम्बस्थानीय चिदंश चिदाभास है, यही योगलक्षण शारीरक आत्मा है। प्रत्यगात्मा अधिदैवतं है, शारीरक आत्मा अध्यात्मम् है। अधिदैवत प्रत्यगात्मा का स्वरूप पूर्वपरिच्छेद में बतलाया जाचुका है। अध्यात्मशारीक आत्मा का स्वरूप मीमांस्य है, उसी की ओर विज्ञपाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

६६–जीव के पाप्माभावों का सामान्य–स्वरूप–दिग्दर्शन—

जिस प्रकार साञ्जन महाविराट्प्रजापति (चिदात्मा) के अंशभूत साक्षी सावरण विराट्प्रजापति में साञ्जनविराट् के यथायावत् (११) आत्मविवर्त्तों, एवं भूतविवर्त्तों का समन्वय बतलाया गया था, एवमेव इस सावरणविराट् के भोक्ता सखा सावरण शारीरक आत्मा में भी साञ्जन प्रत्यगात्मा के आत्म-भूत-विवर्त्तों का समन्वय होरहा है। जैसा स्वरूप, जो कलाविभाग, प्रत्यगात्मेश्वर का है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही कलाविभाग इस शारीरक जीव का है। केवल पाप्माभावों में अन्तर है। प्रत्यगात्मेश्वर नित्यमुक्त है। वह कभी मुक्तावस्था में रहे, कभी बन्धनावस्था में रहे, इस उभय 'पर्य्यायत' नामक पाप्मा का उसमें अभाव है। इधर शारीरक जीव में मोक्ष, बन्ध, नामक दोनों पर्य्यायत–पाप्माओं का सम्बन्ध रहता है। विद्यात्मक पर्य्याय **मुक्तपर्य्याय**[१] है, कर्म्मात्मक पर्य्याय **बन्धपर्य्याय**[२] है। ईश्वर में **क्षुधा**[१/१] (भूख), **पिपासा**,[२/२] (प्यास), **शोक**[१/३] (सन्ताप), **मोह**[२/४] (वैचित्य), **जरा**[१/५] (बुढापा), **व्याधि**[२/६] (रोग), इन ऊर्म्मिभाव (उच्चावच लहर) रूप पाप्माओं का अभाव है, जीव इन ६ओं ऊर्म्मियों से युक्त रहता है। षडूर्म्मिपाप्माओं से असंस्पृष्ट ईश्वर एकरस है, षडूर्म्मिपाप्माओं से नित्ययुक्त रहता हुआ जीव विभिन्नरस है। ज्ञानात्मक **भावनासंस्कारलेप**[१], कर्म्मात्मक **वासनासंस्कारलेप**[२], इन दोनों आशय नामक पाप्माओं से ईश्वर असंस्पृष्ट रहता हुआ निर्लेप है। इधर जीव दोनों आशयों से युक्त रहता हुआ सलेप है। ईश्वर नित्य जाग्रत, नित्यैकरस रहता हुआ **जाग्रत्**[१/१], **स्वप्न**[२/२], **सुषुप्ति**[१/३], **मोह**[२/४], **मुर्च्छा**[१/५], **मृत्यु**[२/६], इन ६अवस्था नामक पाप्माओं से वियुक्त रहता है, जीव ६ओं अवस्था–पाप्माओं से नित्ययुक्त रहता है। कर्म्ममय सावरण विश्व का मूलप्रवर्त्तक बनता हुआ भी ईश्वर समत्वलक्षण बुद्धियोग के प्रभाव से कर्म्मसंस्कारलेपबन्धन से वियुक्त रहता हुआ '**न करोति–न लिप्यते**' को चरितार्थ करता हुआ निष्कर्म्म बना हुआ है। इधर जीवात्मा यज्ञ–तपो–दान लक्षण विद्या–समुचित **प्रवृत्तिसत्कर्म्म**, इष्ट–आपूर्त्त–दत्त–लक्षण विद्यानिरपेक्ष **प्रवृत्तिसत्कर्म्म**, सुरापान–अगम्यागमन, वृथा हिंसा, स्तेय, भ्रूणहत्या, छलद्वारा धनोपार्ज्जन, इत्यादि शास्त्रनिषिद्ध विकर्म्मरूप (विरुद्धकर्म्मरूप) **असत्कर्म्म**, जलताड़न, कराघात, पादभ्रमण, शिरस्ताडन, अङ्गुलिध्वनि (चुटकी), पादाङ्गुष्ठद्वारा भूमि–विलेखन, अङ्गताडन, शारीरयष्टिवक्रीकरण, तृणच्छेद, वृथाहास्य, निरर्थक कालयापन, आदि आदि शास्त्र–प्रतिषिद्धाविहित अकर्म्मरूप (निरर्थककर्म्मरूप) **असत्कर्म्म**, एवं सर्वमूर्द्धन्य, बुद्धियोगलक्षण, विदेहमुक्ति–(जीवमुक्ति) प्रवर्त्तक **निष्कामकर्म्म**, इन कर्म्मों में से अवश्य ही किसी न किसी कर्म्म में रत रहता हुआ 'कर्म्म' नामक पाप्मा से नित्ययुक्त रहता है। यथाविद्यासंस्कारगर्भित यथाकर्म्मसंस्कार (जन्मान्तरीय कर्म्म–संस्कार) से ही पशु–पक्षी–मनुष्य–कृमि–कीटादि जाति (योनि), अल्प–मध्यम–पूर्ण–दीर्घ–आयु (ऊमर),

सत्–असत् भोग प्राप्त होते हैं। संस्कारानुसार प्राप्त *जाति, आयु, भोग, ही कर्म्मविपाक नाम की पाप्मा–त्रयी है। ईश्वर इनसे असंसृष्ट है, जीव इनसे नित्ययुक्त है। यही जीवानुगत पाप्मा–भावों का सामान्य दृष्टिकोण है।

१००—जीवकलाविभूति, तथा पाप्मभावों का स्वरूपदिग्दर्शन—

अब विशेष दृष्टिकोण से विचार कीजिये। पूर्व की अधिदैवत-मीमांसा में आत्मकलाविभूति, सामान्य–कलाविभूति, विशेषकलाविभूति, भेद से प्रत्यगात्मेश्वर में ७२..२३१–५१ इस क्रम से ३५४ तीन सौ चौवन विभूतियों का दिग्दर्शन कराया गया है। इनमें से ७२ आत्मकला–विभूतियाँ, एवं २३१ सामान्यकलाविभूतियाँ तो जीवेश्वर में समान हैं। इस दृष्टि से दोनों अविशेष हैं, परन्तु विशेषविभूतिकला–दृष्टि से दोनों सविशेष हैं। ईश्वर की विद्या–कामादि १६ विशेष विभूतिकलाओं में से विद्या[१]–काम[२]–कर्म्म[३]–शुक्र[४]–प्राण[५]–इन्द्रिय[६], आरम्भ की ये ६ विभूतिकलाएँ क्रमशः १/४–२/२–३/७–४/६–५/१७–६/५, इन अवान्तर संख्याओं में विभक्त रहतीं हुईं ४१ हैं, शेष पूर्णेन्द्रत्वादि १० कलाविभूतियाँ हैं। सम्भूय ५१ विशेषकलाविभूतियाँ हो जातीं हैं। इधर जीवशरीर में केवल ४० ही कलाविभूतियाँ हैं। पूर्णेन्द्रत्त्व–सत्यसंकल्पत्त्व–एकरसत्त्व–एकावस्थत्त्व–व्यापकत्त्व–विश्वसृष्टत्त्व, साक्षित्त्व, सर्ववशित्त्व, कर्म्माध्यक्षत्त्व, पाप्माऽसंस्पृष्टत्त्व, इन १० ईश्वरीय विशेषकला-विभूतियों का जीवसंस्था में अभाव है। विद्यादि ६ विशेष कलाविभूतियाँ हीं इसमें प्रतिष्ठित हैं। इनमें भी काम, शुक्र, इन्द्रिय, नामक तीन विभूतियों में अन्तर हैं। ईश्वर की कामविभूति द्विविधा है, जीवकामविभूति विषयभेद से अनेकविधा, कामत्वेन एकविधा ही है। ईश्वरीय शुक्रविभूति षड्विध है, जीवशुक्रविभूति भावनाशुक्र–वासनाशुक्र भेद से द्विविधा ही है। ईश्वरीय इन्द्रियविभूति पञ्चविध है, जीवेन्द्रियविभूति दशविध है। शेष विशेष कलाविभूतियाँ सामान्यकलाविभूतियों की भाँति जीवेश्वर में समान हैं।

धर्म्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य्य, भेदभिन्ना चतुर्विधा **विद्याविभूति**[१] का उदय सूर्य्य से हुआ है। अतएव इसे **'सौरविभूति'** कहा जा सकता है। एकविधा [२]**कामविभूति** का उदय चन्द्रमा से हुआ है, अतएव इसे **'चान्द्रविभूति'** माना जा सकता है। **यज्ञ–तप–दान–इष्ट–आपूर्त्त–दत्त**–इस षड्विधा **कर्म्म**[३]-विभूति का उदय अदितिपृथिवी से हुआ है, अतएव इसे **'पार्थिवविभूति'** नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। **'भावनाशुक्र, वासनाशुक्र'** इस द्विविधा **शुक्र**[४]विभूति का उदय भूपिण्डावयभूत विषयों के आधार पर हुआ है, अतएव इसे **'भौमविभूति'** कहना अन्वर्थ बनता है। **पञ्चब्रह्म–पञ्चदेवप्राण, सप्तगुह्यप्राण**, भेदभिन्ना सप्तदशविधा **प्राण**(५)विभूति का उदय सौरइन्द्र से हुआ है, अतएव इसे **'ऐन्द्रविभूति'** मानना समीचीन होता है। श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, जिह्वा, प्राण (घ्राण), भेदभिन्न ज्ञानेन्द्रियपञ्चक, वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ, पायु, भेदभिन्न कर्म्मेन्द्रियपञ्चक, तदित्थं दशविधा **इन्द्रिय**[६]-विभूति का प्रज्ञाप्राणात्मक **चान्द्र इन्द्र** से उदय हुआ है। अतएव इसे **'चान्द्रविभूति'** कहने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। सम्भूय इन ६ कलाविभूतियों की ४–१–७–२–१७–१०–इन अवान्तर कलाओं के संकलन से जीवानुगत विशेषभूतिकलाएँ ४० हो जाती हैं, जैसाकि परिलेख से स्पष्ट है—

---

* आयुः, कर्म्म च, वित्तं च, विद्या, निधनमेव च।
पञ्चैतानि तु सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥

(४) १–विद्याविभूतिः—धर्म-ज्ञान-वैराग्य-ऐश्वर्य्य–भेदभिन्ना चतुर्विधा —सौरविभूतिः

(१) २–कामविभूतिः—विषयभेदादनेकविधा, कामत्त्वेन–एकविधा —चान्द्रविभूतिः

(६) ३–कर्म्मविभूतिः—यज्ञस्तपो–दान–मिष्ट–मापूर्त्तं–दत्तमिति–भेदभिन्ना षड्विधा —पार्थिवविभूतिः

(२) ४–शुक्रविभूतिः—भावनाशुक्र–वासनाशुक्र–भेदभिन्ना द्विविधा —भौमविभूतिः

(१७) ५–प्राणविभूतिः–पञ्चब्रह्मप्राण–पञ्चदेवप्राण–सप्तगुहाप्राण-भेदभिन्ना सप्तदशविधा —ऐन्द्रविभूतिः

(१०) ६–इन्द्रियविभूतिः-श्रोत्र-त्वक्-चक्षु-र्जिह्वा-प्राण--वाक्-पाणि-पादो-पस्थ-पायु–भेदभिन्ना दशविधा —चान्द्रविभूतिः

—४०—

* * *

१–चतस्रो विद्याः] —४

२–मनसः क्रिया कामः] —१

३–षट् कर्म्माणि] —६

४–ऐहिकामुष्मिकयोर्दृष्टानुश्रविकयो–र्विषयग्रामयोरुपजनहेतुभूते–भावना–वासनाभिधे द्वे शुक्रे]—२

५–ब्रह्म–देव–गुहा–भेदेन २८ विभक्ताः प्राणाः] १७

६– [*–त्वक्–चक्षु–र्जिह्वा–प्राण–श्रोत्र–मिति–पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि
*–वाक्–पाणि–पादो–पस्थ–पायवः–इति पञ्च कर्म्मेन्द्रियाणि] १०

४० जीवानुगताः–विशेषकला–विभूतयः

* * *

पूर्व में जिन पर्य्यायादि पाप्माओं का दिग्दर्शन कराया गया है, यदि उनकी सूक्ष्म मीमांसा की जाती है, तो उनके **'उर्म्मि, अवस्था, क्लेश, बन्ध, कर्म्मविपाक, आशय, अपूर्णत्त्व, पर्य्याय,'** ये आठ विवर्त्त हो जाते है। आठों क्रमशः ६,६,५,३,१०,२,१,३, इन अवान्तर संख्याओ में विभक्त हैं। संकलन से षट्त्रिंशत् (३६) पाप्मा हो जाते हैं। यह पाप्मारूप आवरण ही जीव का जीवत्त्व है। जब तक जीव इन पाप्माओं से युक्त है, तब तक वह 'अज्ञ' नामक जीव है। पाप्माओं के मध्यावरण ने ही इसका उस विशुद्ध विभूतिलक्षण प्रत्यगात्मेश्वर से पार्थक्य कर रक्खा है। जिस दिन बुद्धियोगप्रभाव से यह पाप्मावरण एकान्ततः निवृत्त हो जाता है, उस दिन यह जीव भी 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' का अनुगामी बनता हुआ ईश्वरीय–सम्पत् प्राप्त कर लेता है। जीवानुगत चत्त्वारिंशत् (४०) विशेषकलाविभूतियों का, एवं जीवानुगत षट्त्रिंशत् (३६) पाप्माकलाओं का तात्त्विक विश्लेषण खण्डचतुष्टयात्मक श्राद्धविज्ञान के प्रथमखण्ड की–**'प्राणात्मविज्ञानोपनिषत्'** नाम की प्रथमा उपनिषत् में हुआ है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को तदुपनिषत् का ही अवलोकन करना चाहिये। यहाँ इन पाप्माओं की तालिकामात्र उद्धृत कर दी जाती है—

जीवानुगताः पाप्मानः—

(१)—क्षुत्-पासे, शोक-मोहौ, जरा-व्याधी, इति षट्	—ऊर्म्मयः	(६)
(२)—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तयः, मोह-मूर्च्छा-मृत्यवः, इति षट्	—अवस्थाः	(६)
(३)—अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशाः, इति पञ्च	—क्लेशाः	(५)
(४)—आधिदैविक-आध्यात्मिक-आधिभौतिकाः, इति त्रयः	—बन्धाः	(३)
(५)—जाति-आयु-र्भोगाः, सप्त अन्नानि, इति दश	—कर्म्मविपाकाः	(१०)
(६)—शुभा-शुभौ, इति भोगहेतू, द्वौ	—आशयौ	(२)
(७)—स्त्री-पुरुषाभ्यामात्मनो द्विधाभावत्त्वम्	—अपूर्णत्त्वम्	(१)
(८)—संसारः, बन्धपर्य्यायः, मुक्तपर्य्यायः, इति त्रयः	—पर्य्यायाः	(३)

तदित्थं पाप्मानः षट्त्रिंशत् (३६)

——(०)——

जीवसंस्थायां—

(१)—आत्मविभूतिकलाः	७२	—सम्भूय ३७९ कलाः-जीवात्मनि भुक्ताः
(२)—सामान्यविभूतिकलाः	२३१	
(३)—विशेषविभूतिकलाः	४०	
(४)—पाप्मकलाः	३६	

——(०)——

१०१–अधिदैवत गूढोत्मा, एवं अध्यात्म गूढोत्मा—

प्रकृत दृष्टि से विषय का समन्वय कीजिए। अधिदैवतलक्षण साक्षी प्रत्यगात्मा की भाँति चिदाभास–लक्षण भोक्ता शारीरक आत्मा में भी आत्मग्राम, भूतग्राम, भेद से दोनों विवर्त्त हैं। एवं तद्वत् ही आत्मग्राम यहाँ भी **गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, वैकारिकात्मा,** भेद से तीन भागों में विभक्त है। साथ ही तद्वत् ही गूढोत्मा, अव्यक्तात्मा, दोनों आत्मविवर्त्त अधिदैवतवत् इस अध्यात्म में समान हैं, वैकारिकात्मविवर्त्त असमान हैं, विशेष हैं। चिदाभासात्मक चिदंशरूप इस शारीरक आत्मा (भोक्ता जीव) में चिदंशात्मक चिदंशरूप प्रत्यगात्मा (साक्षी ईश्वर, विराट्) के द्वारा भुक्त परात्पर–अव्यय–अक्षर–आत्मक्षररूप षोडशकल महेश्वरात्मा ही अध्यात्मलक्षण गूढोत्मा है। अधिदैवतानुगत षोडशी **ईश्वराव्यय** कहलाया है, अध्यात्मानुगत षोडशी **जीवाव्यय** कहलाया है। गीता में दोनों के स्वरूपों का विभिन्नरूप से विश्लेषण हुआ है। तत्त्वानुगता व्याख्या को मूलभाष्य पर छोड़ते हुए यहाँ केवल तत्स्वरूपविश्लेषक वचनमात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं—

ईश्वराव्ययधर्म्माः (अधिदैवतं-गूढोत्मा) —गति, भर्त्ता, प्रभुः, **साक्षी**, निवासः, शरणं, सुहृत्।
प्रभवः, प्रलयः, स्थानं, निधानं, बीजमव्ययम्॥ गी०६।१८।

* * *

जीवाव्ययधर्म्माः– (अध्यात्मम्–गूढोत्मा) —उपद्रष्टा, ऽनुमन्ता च, भर्त्ता, **भोक्ता** महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः॥ गी०१३।२२।

* * *

१०२–एकोनविंशतिमुख जीवात्मा का स्वरूपविस्तार—

अव्ययप्रधान गूढोत्मा परपुरुष है, अक्षरप्रधान अव्यक्तात्मा परावरपुरुष है, आत्मक्षरप्रधान वैकारिकात्मा अवरपुरुष है। तीनों की समष्टि ही 'अधिदैवतम्' है, तीनों की समष्टि ही 'अध्यात्मम्' है। अधिदैवत में प्रतिष्ठित परपुरुषरूप को गीता ने 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत किया है। कारण '**बिभर्त्त्यव्यय–ईश्वरः**' इस अन्य वचनानुसार 'अव्यय' शब्द 'ईश्वर' भाव का सूचक है, और अधिदैवतप्रपञ्च साक्षीरूप ईश्वर ही माना गया है। यह अव्ययेश्वर ही अध्यात्मसंस्था के गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत् (सखा), प्रभव, प्रलय, स्थान, निधान, एवं बीज है। आध्यात्मिक गूढोत्मा भी अधिदैवत गूढोत्मा की भाँति अव्ययप्रधान अवश्य है। परन्तु यह ईश्वराव्यय नहीं, अपितु जीवाव्यय है। साक्षी अव्यय नहीं, अपितु भोक्ता अव्यय है। अतएव इसे ईश्वरभावसमर्थक 'अव्यय' शब्द से व्यवहृत न कर '**देहेऽस्मिन् पुरुषः परः**' इत्यादिरूप से 'परपुरुष' नाम से ही व्यवहृत किया गया है। ईश्वराव्यय देहाभिमान से विमुक्त रहता है। अतएव उसके लिए किसी सोपाधिक भाव का प्रदर्शन न कर केवल 'अव्ययम्' कह दिया गया है। इधर जीवाव्यय उपद्रष्टा–अनुमन्ता–भर्त्ता–भोक्ता बनता हुआ देहाभिमानी अव्यय है, अतएव इसके लिए 'देहे–